

इंदिरा गाँधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

खंड

8

राष्ट्रीय आंदोलन : विरासत

इकाई 32

राष्ट्रीय आंदोलन और इसकी रणनीतियाँ 5

इकाई 33

राष्ट्रीय आंदोलन और सांप्रदायिक समस्या 18

इकाई 34

भारत के संविधान का निर्माण 31

इकाई 35

राष्ट्रीय आंदोलन की विरासतें 41

विशेषज्ञ समिति

प्रो. मृदुला मुखर्जी
प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टोरिकल
स्टडीज, जे.एन.यू.
नई दिल्ली

प्रो. आदित्य मुखर्जी
प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टोरिकल
स्टडीज, जे.एन.यू.
नई दिल्ली

प्रो. अपर्णा बसु
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. के.एल. टुटेजा
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. सुचेता महाजन
प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टोरिकल
स्टडीज,
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. जी.पी. शर्मा
इतिहास एवं संस्कृति विभाग
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

डॉ. विशालाक्षी मेनन
जीसस एण्ड मेरी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. सलिल मिश्रा
इतिहास विभाग
अम्बेडकर विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. रविन्द्र कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. ए.आर.खान
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. स्वराज बसु
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

* इस पाठ्यक्रम की संकल्पना करने तथा प्रारंभ करने हेतु हम प्रो. सलिल मिश्रा के आभारी हैं।

पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. एस.बी. उपाध्याय

कार्यक्रम संयोजक

प्रो. स्वराज बसु

खंड निर्माण दल

इकाई सं. इकाई लेखक

इकाई 32, 33 और 35
प्रो. सलिल मिश्रा
इतिहास विभाग
अम्बेडकर विश्वविद्यालय
दिल्ली

इकाई 34
प्रो. जगपाल सिंह
राजनीति शास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

अनुवादक

प्रो. गोपाल प्रधान
हिन्दी विभाग
अम्बेडकर विश्वविद्यालय
दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री मंजीत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

अक्टूबर, 2016

© इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2016

ISBN-978-81-

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ एवं इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली

मुद्रक :

खंड 8 राष्ट्रीय आंदोलन : विरासत

आम तौर पर जैसा माना जाता है, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन इतिहास के महानतम आंदोलनों में था। विशाल क्षेत्र में विस्तृत, विराट संख्या में लोगों को शामिल करते हुए, तमाम तरह की विचारधाराओं से संवाद करते हुए इस आंदोलन ने न केवल एक स्वाधीन राष्ट्र-राज्य की स्थापना में सफलता पाई, बल्कि नए राष्ट्र के लिए विचार और आचरण की एक समृद्ध विरासत भी प्रदान की। पाठ्यक्रम के इस आखिरी खंड में भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की शक्ति और सीमाओं का जायजा लेंगे।

इकाई 32 में आप उस रणनीति के बारे में पढ़ेंगे जिसे महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रवादी आंदोलन ने इतिहास की सबसे बड़ी और सर्वाधिक सफल साम्राज्यवादी शक्ति से लड़ने के लिए अपनाया था। भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक राज पूरी तरह से सर्वसत्तावादी राज नहीं था। यह अर्ध-सत्तावादी और अर्ध-वर्चस्ववादी शासन था जो बल प्रयोग और सहमति दोनों पर निर्भर था। इसमें एक स्तर तक कानूनी रास्ता अपनाया जाता था और जनता की राय से इस पर प्रभाव पड़ता था। इस तरह के शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन ने अहिंसक जन संघर्ष की रणनीति अपनाई जिसमें छोटी छोटी जीतों को स्वीकार किया जाता था। हालांकि इस गांधीवादी रणनीति को कुछ चुनौतियां झेलनी पड़ीं, फिर भी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष की यही प्रमुख पद्धति बनी रही।

जहां राष्ट्रवादी आंदोलन की औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष की रणनीति से सफलता मिली वहीं राष्ट्रवादी आंदोलन सांप्रदायिकता के दानव को काबू में रखने में आंशिक रूप से असफल रहा जिसके चलते देश का विभाजन भी हुआ। **इकाई 33** में उन्नीसवीं सदी में अलग धार्मिक समुदायों के उदय तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जन सांप्रदायिकता के विकास का विवेचन किया गया है। राष्ट्रवादी आंदोलन हिंदू महासभा को काबू करने में सक्षम रहा लेकिन मुसलमानों को बड़ी संख्या में यह अपने घेरे में लाने में तथा इसके सहारे मुस्लिम लीग को निष्प्रभाव रखने में सफल न हो सका। 1930 और 1940 के दशक में कठोर सांप्रदायिक आधार पर मुस्लिम लीग की आश्चर्यजनक वृद्धि का कांग्रेस प्रभावी मुकाबला न कर सकी। इसका कारण यह था कि कांग्रेस सांप्रदायिकता का मुकाबला करने की सुसंगत रणनीति का पालन नहीं करती थी और इसका रुख परिस्थितियों के हिसाब से बदलता रहता था।

भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व की सबसे महान सफलता भारतीय संविधान है जिसमें राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान गृहीत और विकसित बुनियादी मानववादी और लोकतांत्रिक मूल्यों को साकार रूप मिला। भारतीय संविधान में लोकतंत्र, व्यक्ति के अधिकार, समता, स्वतंत्रता और धर्मनिरपेक्षता के आदर्श प्रतिष्ठित हैं। **इकाई 34** में हम उन चरणों की चर्चा करेंगे जिनसे गुजरकर संविधान का निर्माण हुआ और इसकी कार्यपद्धति निर्धारित की गई। हालांकि 1858 से ही संविधान निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गई लेकिन 1928 की नेहरू रिपोर्ट और अंत में संविधान सभा में संविधान की शकल तय हुई।

इकाई 35 में आप स्वाधीन भारत की जनता के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा छोड़ी गई महत्वपूर्ण विरासत से परिचित होंगे। भूभागीय और अनुत्पीड़क राष्ट्रवाद, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में आम जनता की बड़े पैमाने पर भागीदारी, धर्मनिरपेक्षता का भारत का अपना

स्वरूप, नागरिक अधिकारों की प्रतिबद्धता और एक स्वतंत्र विदेश नीति—स्वतंत्रता के बाद की राजनीति के लिए स्वाधीनता आंदोलन के ये सबसे महत्वपूर्ण योगदान हैं। बहरहाल कुछ विखंडनकारी प्रवृत्तियां थीं जिन्हें राष्ट्रवादी आंदोलन दूर नहीं कर सका वे वर्तमान समय तक जीवित हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के बाद की राजनीति और समाज के निर्माण में राष्ट्रवादी आंदोलन का भारी प्रभाव रहा है।



इकाई 32 राष्ट्रीय आंदोलन और इसकी रणनीतियां*

संरचना

- 32.1 प्रस्तावना
- 32.2 क्या राष्ट्रीय आंदोलन की कोई रणनीति थी?
- 32.3 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति
- 32.4 गांधीवादी रणनीति का निर्माण
- 32.5 गांधीवादी रणनीति का सार
- 32.6 गांधीवादी रणनीति: कुछ सामान्य बातें
- 32.7 वैकल्पिक रणनीतिक दृष्टियां
- 32.8 सारांश
- 32.9 अभ्यास

32.1 प्रस्तावना

किसी भी दीर्घकालीन राजनीतिक आंदोलन का अध्ययन छह प्रमुख घटकों पर केंद्रित करके किया जाना चाहिए— राजनीतिक लक्ष्य, कार्यक्रम और विचारधारा, रणनीति, नेतृत्व, सामाजिक आधार और वर्ग चरित्र। ये सभी घटक महत्वपूर्ण हैं। हालांकि ये सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं लेकिन इनमें से कोई भी दूसरे की जगह नहीं रखा जा सकता है और न ही किसी को दूसरे में अपघटित किया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन जैसे किसी दीर्घकालीन संघर्ष के लिए रणनीति का अपार महत्व है। संघर्ष के विभिन्न चरणों में इसके जरिए निरंतरता पैदा होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक जटिल परिघटना थी इसलिए सीधी और इकहरी लड़ाई में उससे नहीं लड़ा जा सकता था। इसके लिए तरह तरह की ढेर सारी तकनीकों की जरूरत थी। इन तकनीकों को इतना लचीला होना चाहिए था कि समय और संदर्भ में बदलाव के अनुसार उनमें भी बदलाव लाया जा सके। फिर भी इन्हें इतना टिकाऊ और दीर्घकालीन होना चाहिए था कि नेतृत्व के बदलने पर भी कायम रहें। यह रोचक है कि आंदोलन के नेतृत्व में बदलाव होने से अनिवार्य रूप से रणनीति में बदलाव नहीं आया। इस इकाई में राष्ट्रवादी आंदोलन की रणनीति से जुड़े कुछ विशेष सवालों पर विचार किया जाएगा।

32.2 क्या राष्ट्रीय आंदोलन की कोई रणनीति थी?

इस सवाल पर विविध तरह के इतिहास लेखन में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं। मजेदार बात यह है कि दोनों ही दृष्टिकोण आंदोलन के लिए रणनीति के महत्व या उसकी मौजूदगी से इनकार करते हैं। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में अक्सर एक पारंपरिक दृष्टिकोण पाया जाता है जो आंदोलन में विचार और आदर्श, साहस और बलिदान की भूमिका को महत्वपूर्ण तत्वों के रूप में उजागर करता है। इसके पीछे मान्यता यह थी कि 1947 में जो आजादी मिली वह नेताओं और उनके अनुयायियों द्वारा प्रदर्शित साहस, निष्ठा और निरुस्वार्थ त्याग का परिणाम थी। साफ है कि ऐसा दृष्टिकोण आंदोलन में रणनीति की भूमिका को अनदेखा करेगा।

*इकाई लेखक: प्रो. सलिल मिश्रा

इसके विरोधी ध्रुवांत पर जो दृष्टिकोण है उसके उदाहरण इतिहास लेखन के कैम्ब्रिज स्कूल की कई रचनाओं में मिलेंगे। इस स्कूल ने आंदोलन को "समग्र" के रूप में नहीं, बल्कि अनेक गतिविधियों और हितों में विभाजित करके देखा। राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में यह बिखरावमूलक दृष्टि थी जो इस आंदोलन को देश और काल के स्तर पर जुड़ा हुआ नहीं समझती थी। इस दृष्टि के मुताबिक आंदोलन का आरंभिक चरण परवर्ती चरण से जुड़ा हुआ नहीं था और जो राजनीतिक ऊर्जा पैदा हुई वह स्थानीय, प्रांतीय और अखिल भारतीय स्तरों पर संकेंद्रित थी। अक्सर ये स्तर अलग अलग दिशाओं में चलते थे। राजनीतिक गतिविधियों की प्रेरणा विचारों की जगह 'हितों' से ज्यादा मिलती थी। दूसरे शब्दों में कैम्ब्रिज स्कूल ने आंदोलन की ऐसी तस्वीर निर्मित की जो परस्पर संबद्ध समग्र संरचना की जगह नाना प्रकार के टुकड़ों और हितों का जमाजोड़ प्रतीत होती है। साफ है कि यह दृष्टिकोण भी रणनीति को आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक की तरह नहीं समझेगा।

इन दोनों दृष्टिकोणों के विपरीत रणनीति के बारे में असली बातचीत आंदोलन के बारे में मार्क्सवादी लेखन, खासकर बिपन चंद्र के लेखन में सामने आई। उनका कहना था कि कुल मिलाकर आंदोलन देश और काल के स्तर पर जुड़ा हुआ था। इसने अपने भीतर तरह तरह की गतिविधियों, तकनीकों और कार्यनीतियों को जगह दी। लेकिन खासकर गांधीवादी चरण में आंदोलन में केंद्रीय रणनीतिक ढांचे की मौजूदगी देखी जा सकती है। इस रणनीतिक ढांचे ने आंदोलन के क्रम में धुरी का काम किया। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक के बतौर रणनीति पर ध्यान देना बेहद जरूरी है।

32.3 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति

किसी भी राज्य के विरुद्ध अपनाए जाने वाले रणनीतिक विकल्पों तथा उस राज्य की प्रकृति के बीच मजबूत सह-संबंध होता है। जिस तरीके से सत्ता हासिल की जाती है और उसका इस्तेमाल किया जाता है उससे तय होता है कि किस तरीके से उस सत्ता को चुनौती दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, रणनीति के सवाल को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है अगर हम इसे भारत में औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति के संदर्भ में देखें।

प्रमुख इतालवी मार्क्सवादी चिंतक अंतोनियो ग्राम्शी (1891-1937) ने राज्य की प्रकृति और उसके विरुद्ध संघर्षों की प्रकृति के बीच रिश्ते की समझ प्रदान की है। मार्क्सवादी चिंतन के बेहद महत्वपूर्ण मुद्दे पर ग्राम्शी सोच रहे थे। उनको इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि जार के रूस में जो बोल्शेविक किस्म की क्रांति सफल हो गई वह पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी लोकतांत्रिक समाजों में सफल होती हुई क्यों नहीं दिखाई दे रही है। इस सवाल का उत्तर खोजने के क्रम में उन्हें राज्य की प्रकृति पर ध्यान केंद्रित करना पड़ा जो इस उत्तर की कुंजी था। इसके बाद उन्होंने कहा कि पश्चिम यूरोपीय समाजों में राज्य की प्रकृति जार के रूस से बुनियादी तौर पर अलग थी इसलिए इन समाजों में क्रांतिकारी संघर्ष भिन्न प्रकृति का ही होगा। राजसत्ता के विरुद्ध संघर्ष की प्रमुख रणनीतियों को उन्होंने चलायमान युद्ध और मोर्चेबंदी का युद्ध में बांटा। उनका कहना था कि जब सत्ता राज्य के हाथों में काफी केंद्रित होती है तो उसके विरुद्ध चलायमान युद्ध सफल होगा। उदाहरण के लिए जार के रूस में ऐसा ही मामला था जिसमें राजसत्ता को एक ही धक्के में मटियामेट करना संभव था। लेकिन ऐसी स्थिति में जहां सत्ता विभिन्न संस्थाओं में बिखरी हुई हो और राज्य के चारों ओर ढेर सारी 'खाइयों' के जटिल जाल की किलेबंदी हो तो चलायमान युद्ध प्रभावी नहीं होगा और अलग रणनीति की जरूरत पड़ेगी। बीसवीं सदी के पूंजीवादी समाज ऐसे ही समाज थे। ग्राम्शी के मुताबिक यही मुख्य कारण है कि ऐसी

स्थितियों में समाजवादी क्रांति सफल नहीं हो सकी। ऐसी स्थितियों के लिए ग्राम्शी ने मोर्चेबंदी के युद्ध की वकालत की।

इतिहास में सभी राज्यों ने 'ताकत' और 'सहमति' के संश्रय की सहायता से शासन किया है। केवल और केवल नग्न ताकत के आधार पर कोई राज्य शासन नहीं चलाता है। बहरहाल आधुनिक राज्यों में ताकत और अधिक बिखर गई और सहमति का क्षेत्र बड़ा होता गया। आधुनिक पूंजीवादी राज्य 'कानून का राज' कहकर शासन चलाते हैं जो वैधता का बड़ा स्रोत हो जाता है। इस वैधता के चलते आधुनिक पूंजीवादी राज्यों को सहमति के परिसर बनाने की क्षमता मिल जाती है। दूसरे शब्दों में आधुनिक पूंजीवादी राज्य 'वर्चस्व' के जरिए शासन चलाते हैं जो सहमति और ताकत का संश्रय है। ऐसे वर्चस्वशाली राज्य के विरुद्ध, जिसमें समाज का बड़ा हिस्सा राज्य के पीछे खड़ा होता है, हिंसक रूप से उखाड़ फेंकने की रणनीति (जैसा जार के रूस में हुआ) संभव नहीं होगी। इसकी बजाए ऐसी स्थितियों में 'मोर्चेबंदी का युद्ध' पर चलना अधिक उपयोगी होगा यानी छोटी छोटी जीतों के लिए विभिन्न चरणों में संचालित टुकड़ा टुकड़ा लड़ाई जिसे इकट्ठा करके बड़ी सफलता में बदला जा सके। ग्राम्शी इसे 'खाइयों की लड़ाई' भी कहते थे। मोर्चेबंदी के युद्ध के लिए अनुकूल स्थिति होती है जब 'मुट्टी भर उत्पीड़कों के सम्मुख विशाल जन समुदाय में भौतिक असहायता की चेतना हो'। यह दीर्घकालीन संघर्ष होगा जिसमें शुरुआत तो असंतुलन से होगी, जिसमें शत्रु का पलड़ा भारी होगा। लेकिन मोर्चेबंदी के युद्ध की रणनीति इस स्थिति को विभिन्न चरणों में बदल सकेगी।

मजेदार बात यह है कि हालांकि ग्राम्शी ने मोर्चेबंदी के युद्ध की रणनीति को लोकतांत्रिक पूंजीवादी राज्यों के लिए प्रभावी बताया था लेकिन वे यह देखने में सफल रहे कि यह रणनीति भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में लागू हो रही है। हालांकि वे जेल में थे और बाहरी दुनिया के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती रही होगी फिर भी उन्होंने सीमित तौर पर ही सही गांधी के नेतृत्व में चले संघर्ष के कुछ विशेष पहलुओं पर ध्यान दिया। अपनी जेल डायरी में ग्राम्शी ने लिखा:

'अंग्रेजों के विरुद्ध भारत के राजनीतिक संघर्ष में लड़ाई के तीन रूप हैं: चलायमान युद्ध, मोर्चेबंदी का युद्ध और भूमिगत युद्ध। गांधी का निष्क्रिय प्रतिरोध मोर्चेबंदी का युद्ध है जो कभी चलायमान युद्ध में तो कभी भूमिगत युद्ध में बदल जाता है। बहिष्कार मोर्चेबंदी के युद्ध का रूप है, हड़ताल चलायमान युद्ध का तो हथियारों तथा योद्धा सैनिकों की तैयारी भूमिगत युद्ध का रूप है'।

राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति के बारे में हमारे इस पाठ के लिए ग्राम्शी के चिंतन की क्या प्रासंगिकता है? उनके दिमाग में राजसत्ता के दो रूप थे— राज्य का सर्वसत्तावादी रूप जिसमें राज्य के भीतर सीधे सत्ता संकेंद्रित होती है और लोकतांत्रिक यूरोपीय समाजों का रूप जिसमें सत्ता ढेर सारी संस्थाओं में बिखरी और समाई हुई होती है। मजेदार बात यह है कि भारत का औपनिवेशिक राज्य इन दोनों रूपों से भिन्न किस्म का था।

हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन की प्रधान रणनीति को समझने के लिए ग्राम्शी ने 'मोर्चेबंदी का युद्ध' जैसी महत्वपूर्ण धारणात्मक कोटि दी है लेकिन उन्होंने साफ साफ यह नहीं बताया कि किन स्थितियों में मोर्चेबंदी का युद्ध चलाया जाता है। उन्होंने हिंसा और अहिंसा का सवाल भी नहीं उठाया। इसी सवाल पर गांधीवादी व्यवहार इस बहस को आगे बढ़ाता है। मोटे तौर पर गांधी इस मार्कसीय विचार को मानते थे कि राज्य संगठित हिंसा का उपकरण है। लेकिन वे बीसवीं सदी के राज्य को इस कदर संस्थापित मानते थे कि उसे हथियारबंद

हिंसक लड़ाई से उखाड़ना संभव नहीं है। उन्होंने लिखा: "ब्रिटिश प्रभुत्व को ब्रिटिश हथियारों के जरिए तो टिकाया ही गया है लेकिन उतना ही सहारा उसे कानूनों, पदवियों के बंटवारे, अदालतों, शिक्षा संस्थानों, वित्तीय नीति आदि से भी मिलता है।" इन सबसे सहमति के क्षेत्र निर्मित होते हैं जिनके चलते अहिंसक संघर्ष जरूरी हो जाता है।

दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार के साथ अपने टकरावों के जरिए गांधी ने इसके बारे में समझ बनानी शुरू कर दी थी। दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह के दौरान गांधी को महसूस हुआ कि इंग्लैंड में जनमत काफी मजबूत होता है जो सरकार के फैसलों को भी प्रभावित करने में सक्षम होता है। ब्रिटिश लोकतंत्र को लेकर गांधी के मन में प्रशंसा का भाव पैदा हुआ। इसी के साथ उन्हें ब्रिटिश चिंतन में मजबूत अनुदारवादी तत्व भी नजर आए। प्रथम विश्व युद्ध से कुछ समय पहले उन्होंने कहा था: "कहा जाता है कि ब्रिटिश लोग अपने लिए और दूसरों के लिए आजादी चाहते हैं..... लेकिन उनमें आत्म-छलना इतनी अधिक है जितनी अन्य किसी देश में नहीं है।" इंग्लैंड की जनता के एक और गुण की उन्होंने प्रशंसा की: "मैंने पाया है कि इंग्लैंड के लोग तर्क और अनुनय से प्रभावित होते हैं और हमेशा ऐसे ही दिखना चाहते हैं इसलिए दूसरों के मुकाबले उन्हें लज्जित करके सही काम करवाना अधिक आसान होता है।" (बी.आर. नंदा, *गांधी ऐंड हिज क्रिटीक्स*, पृष्ठ 68 पर उद्धृत)

डी.ए.लो. ने बहुत अच्छी तरह से ब्रिटिश चिंतन में ऊपरी तौर पर मौजूद अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों के बारे में बताया है। इसे उन्होंने ब्रिटिश लोगों की आत्म-छवि की मुख्य प्रवृत्तियों की अस्पष्टता कहा है। इनमें से एक प्रवृत्ति तो उदारपंथी-लोकतांत्रिक थी और दूसरी अनुदारवादी-साम्राज्यवादी थी। एक ओर ब्रिटिश लोग अपने आपको दुनिया के नेता के बतौर देखते थे जिन पर संसार में लोकतंत्र और स्वशासन को बढ़ावा देने की जिम्मेदारी है। इसी के साथ अनुदारवादी-साम्राज्यवादी आत्मछवि भी थी जिसके प्रभाव में कुछ नीति संबंधी निर्णय होते थे। इस आत्म छवि में उपनिवेशों खासकर भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का महत्वपूर्ण और अखंड घटक माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उपनिवेशों के बिना ग्रेट (बड़ा) ब्रिटेन आसानी से लिटिल (लघु) ब्रिटेन में बदल जाएगा। चिंतन की ये दोनों ही प्रवृत्तियां भारत संबंधी नीति निर्माण की ब्रिटिश सोच में मौजूद थीं। इसीलिए कभी कभी रियायत दी जाती थी (उदाहरण के लिए 1917 में स्वशासन को भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य घोषित करना और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान करना)। लेकिन कुछ अन्य अवसरों पर अत्यंत दमनकारी कदम उठाए जाते थे (उदाहरण के लिए 1919 में जलियावाला बाग हत्याकांड और 1932 से 1942 के बीच राष्ट्रवादी आंदोलनों का दमन)।

ब्रिटिश सोच और नीति निर्माण में इस दोहरे रुख को वायसराय रिपन ने बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया जब उन्होंने कहा: "भारत सरकार के सामने चुनने के लिए दो नीतियां मौजूद हैं; एक नीति तो उन लोगों की है जिन्होंने आजाद प्रेस की स्थापना की, जिन्होंने शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिन्होंने विभिन्न रूपों में अधिकाधिक देशी लोगों को सरकारी सेवा में दाखिल किया और जिन्होंने स्वशासन के विस्तार का पक्ष लिया; दूसरी नीति उन लोगों की है जो प्रेस की आजादी से नफरत करते हैं, जो शिक्षा की प्रगति से डरते हैं और जो भारत के देशी लोगों को उनके अपने मामलात के प्रबंधन में सीमित मात्रा में भी हिस्सा देने की किसी भी कोशिश को ईर्ष्या और खतरे की निगाह से देखते हैं।" (एस आर मेहरोत्रा, *द इमर्जेंस आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस*, पृष्ठ 305-06)।

यह स्पष्ट है कि गांधी को ब्रिटिश शासन के इस पहलू की तीक्ष्ण जानकारी थी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी रणनीति को सूत्रबद्ध करने में इस जानकारी का विनियोग किया।

32.4 गांधीवादी रणनीति का निर्माण

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की गांधीवादी रणनीति किसी खाके या किसी घोषणापत्र के रूप में सूत्रबद्ध नहीं है। संघर्ष शुरू होने से पहले इसे तैयार नहीं किया गया था। तत्कालीन अनुभवों का संज्ञान लेने और एक रणनीतिक ढांचे में उसे समाहित करने की प्रक्रिया में उसका विकास हुआ। गांधी की रणनीति ब्रिटिश शासन की उनकी समझदारी और दक्षिण अफ्रीका के उनके अनुभवों पर आधारित थी। अहिंसक असहयोग की उनकी रणनीति मौजूदा राष्ट्रवादी राजनीति से उनके मोहभंग से पैदा हुई थी। उन्होंने संवैधानिक तरीकों पर आधारित भारतीय माडरेटों की राजनीति की सीमाएं समझ ली थीं। ऐसी राजनीति की अपनी सीमाएं होती हैं। रियायतों के प्रस्ताव देकर इसे आसानी से पचाया जा सकता है। ऐसी राजनीति सारतः शासकों की सदिच्छा पर आधारित होती है। ऐसी राजनीति की निष्फलता बंग भंग विरोधी संघर्ष के दौरान जाहिर हो गई थी जिसमें 1903 से 1905 तक माडरेट नेतागण अंग्रेजों से बंग भंग न करने की अपील करते रहे। उनमें से कुछ लोगों को भोला विश्वास था कि अगर अंग्रेजों को समझ में आ जाएगा कि विभाजन की योजना के विरुद्ध प्रचंड बहुमत है तो वे बात समझेंगे और प्रस्तावित विभाजन को लागू नहीं करेंगे। बहरहाल ऐसा कुछ हुआ नहीं और माडरेट नेताओं को खुद ही अपनी राजनीतिक तकनीक की व्यर्थता समझ में आने लगी। अन्य विकल्प भूमिगत राजनीतिक हिंसा थी। इस राजनीति का जन्म स्वदेशी आंदोलन से हुआ जब बंगाल में कई नौजवान स्वदेशी आंदोलन की असफलता से कुंठित होकर राजनीतिक हिंसा के विकल्प की तलाश करने लगे। भूमिगत हिंसा की राजनीति का प्रयोग बंगाल में आजमाया गया और उसका दमन अंग्रेजों ने कर दिया।

गांधी ने इन दोनों तकनीकों की व्यर्थता देखी। इसलिए वे दोनों अतियों का ऐसा विकल्प खोज रहे थे जो दोनों तरीकों से पैदा होने वाली दिक्कतों से बचा सके। अहिंसक असहयोग में उनकी खोज पूरी हुई। उनका असहयोग माडरेटों की तकनीक के विरुद्ध लक्षित था जो अप्रभावी तो हो ही चुके थे उनके अनुपालन में समाहित हो जाने का खतरा भी था। और उनकी अहिंसा हिंसक क्रांतिकारियों की पद्धति के विरुद्ध लक्षित थी जो बहुत समय तक नहीं चल सकती थी और उसका दमन लाजिमी था। बहरहाल जब हम अहिंसा को संघर्ष की उनकी रणनीति के अंग के बतौर समझते हैं तो भी हमें अहिंसा के प्रति उनकी संपूर्ण और अविचल निष्ठा को अनदेखा नहीं करना चाहिए। आंदोलन के लिए अहिंसा प्रभावी रणनीति थी लेकिन गांधी के लिए इसका महत्व केवल रणनीतिक ही नहीं था। इसमें उनकी पूर्ण निष्ठा थी और वे इसकी नैतिक श्रेष्ठता पर विश्वास करते थे।

गांधीवादी रणनीति के निर्माण पर विचार करते हुए 1908-14 के दौरान दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा वहां की भारतीय आबादी के विरुद्ध किए जाने वाले भेदभाव से लड़ने के लिए गांधी ने जो संघर्ष किया उसका ध्यान रखना होगा। मजेदार बात है कि गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में उन सभी तकनीकों का इस्तेमाल किया था जिन्हें बाद में उन्होंने भारत में आजमाया। गांधी ने 1904 में प्रिटोरिया में "इंटरनेशनल प्रिंटिंग प्रेस" नामक प्रेस की स्थापना की थी। जोहानेसबर्ग में उन्होंने 'इंडियन ओपिनियन' अखबार निकाला और भारत में आकर 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' शुरू किया। अहमदाबाद और वर्धा में आश्रम स्थापित करने से पहले वे दक्षिण अफ्रीका में फिनीक्स और तालस्ताय आश्रम चला चुके थे। दक्षिण अफ्रीका

में अपने सत्याग्रह के दौरान गांधी असहयोग, बहिष्कार कर चुके थे और जैसे 1930 में अपने नमक सत्याग्रह के दौरान उन्होंने मशहूर डांडी मार्च किया वैसे ही नटाल से ट्रांसवाल तक मार्च भी किया था। दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ समझौता वार्ता की इच्छा भी उन्होंने जाहिर की थी। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने केवल उपवास का हथियार नहीं आजमाया था। उपवास को गांधी ने राजनीतिक अस्त्र की तरह पहली बार 1918 में अहमदाबाद मिल मजदूरों की हड़ताल का नेतृत्व करते हुए आजमाया।

भारत लौटने के बाद गांधी ने 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका' नामक महत्वपूर्ण किताब लिखी जिसमें उन्होंने सत्याग्रह की अपनी तकनीक की बुनियादी रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने किसी भी उत्पीड़न के विरुद्ध सत्याग्रह को प्रभावी तकनीक बताया। 1924 में अपनी पत्रिका यंग इंडिया के एक लेख में सत्याग्रह को निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया:

'असहयोग और सविनय अवज्ञा एक ही वृक्ष— सत्याग्रह— की दो शाखाएं हैं। यह मेरा कल्पद्रुम (हिंदू मिथक के अनुसार सारी इच्छाओं को पूरा करने वाला पवित्र वृक्ष) है, मेरा जम जम (इस्लामी मिथक के अनुसार एक दैवी पात्र) है, सब कुछ देने वाला है। सत्य की खोज सत्याग्रह है; और सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा वह प्रकाश है जो उस सत्य को उजागर कर देता है। मेरे लिए स्वराज उस सत्य का अंग है। इस सत्याग्रह ने मुझे दक्षिण अफ्रीका, खेड़ा या चंपारण और तमाम अन्य मामलों में मुझे धोखा नहीं दिया है। तमाम हिंसा या नफरत इससे बाहर है..... मैंने बार बार कहा है कि सत्याग्रह कभी असफल नहीं होता और एक पूर्ण सत्याग्रही काफी है सत्य की रक्षा के लिए..... सत्याग्रह अंतरात्मा का धर्म है। यह हम सबमें छिपा हुआ है। स्वराज की तरह ही यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।'

संक्षेप में इस अनुभाग में हमने जाना कि किसी भी समय गांधीवादी रणनीति का कोई भी पूरी तरह से बना बनाया खाका नहीं था। यह लगातार विकसित होती रही और इस क्रम में नए तत्व उसमें जुड़ते गए। उनकी रणनीति का किस प्रक्रिया में निर्माण हो रहा था इसकी समझदारी के लिए दो कारकों— तत्कालीन समूची राष्ट्रवादी राजनीति से उनका असंतोष और दक्षिण अफ्रीका के अनुभव को ध्यान में रखना होगा।

32.5 गांधीवादी रणनीति का सार

मुख्य तौर पर गांधी की सरपरस्ती में राष्ट्रीय आंदोलन को स्पष्ट और दीर्घकालीन रणनीतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट था क्योंकि इसमें कोई अस्पष्टता और भ्रम नहीं था। यह दीर्घकालीन था क्योंकि यह किसी एक घटना या कार्यवाही तक सीमित नहीं था। सभी अलग अलग गतिविधियां एक साझा रणनीति के जरिए आपस में जुड़ी हुई थीं। रणनीति यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ न फेंका जाए बल्कि ऐसे हालात पैदा कर दिए जाएं कि भारत में रहना उनके लिए असंभव हो जाए। दूसरे शब्दों में यह रणनीति साम्राज्यवाद को एक ही धक्के में हटा देने की नहीं थी बल्कि विभिन्न चरणों में संचालित दीर्घकालीन संघर्ष के जरिए उन्हें हटाना था। बिपन चंद्रा के एक उद्धरण से हम गांधीवादी रणनीति का सार बेहतर समझ सकते हैं:

'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का बुनियादी रणनीतिक परिप्रेक्ष्य दीर्घकालीन वर्चस्व की लड़ाई या ग्राम्शीवादी शब्दावली में मोर्चेबंदी का युद्ध छेड़ना था— ऐसी लड़ाई जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के दिलो-दिमाग को जीतना था, विभिन्न रास्तों से लोगों के बीच अपना प्रभाव लगातार बढ़ाने के लिए अलग अलग आंदोलनों और दौरों या चरणों में यह लड़ाई चलनी थी। इस रणनीति में दो बुनियादी बातों पर जोर दिया गया। इसे वर्चस्वशील होना था और

गैर कानूनी जन संघर्ष तथा कानून की चारदीवारी के भीतर विराम के दौर या ग्राप्सी की भाषा में चलायमान युद्ध और मोर्चेबंदी की लड़ाई के दौर इसमें एक दूसरे के बाद आने थे। लेकिन इन दोनों ही चरणों का लक्ष्य जनता के बीच राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव का विस्तार करना था। बुनियादी रणनीति एक ही रही लेकिन विभिन्न दौरों में समय समय पर कार्यनीति में बदलाव आता रहा। इसके अलावे यह क्रमिक सुधार या उपनिवेशवाद के साथ 'समझौता' या इसमें समाहित होने की चाहत या इसके साथ सत्ता और विशेषाधिकार की 'भागीदारी' की रणनीति नहीं थी। यह सक्रिय संघर्ष की रणनीति थी जिसमें औपनिवेशिक राज्य से सत्ता छीन लेने के मकसद से वर्चस्वशाली शक्ति के इलाके बनाने थे। हालांकि इस रणनीति में न केवल सशस्त्र संघर्ष के रास्ते के विकल्प का प्रतिनिधित्व था बल्कि बहुत सारे मामलों में यह लेनिनवादी रणनीतिक तरीके का भी निषेध करती थी फिर भी लेनिनवादी तरीके से रणनीतिक लक्ष्य के मामले में इसकी साझेदारी थी क्योंकि राजसत्ता पर कब्जा करना इसका भी लक्ष्य था। (बिपन चंद्रा, *इंडियन नेशनल मूवमेंट: द लांग-टर्म डायनेमिक्स*, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 40)।

इस रणनीति पर आचरण करने की एक अनिवार्य पूर्वशर्त थी प्रतिपक्ष के स्वभाव का पता लगाना। गांधी समझते थे कि भारत पर अंग्रेज केवल ताकत और उत्पीड़न के जरिए शासन नहीं कर रहे हैं। वे भारतीय जनता के दिलो-दिमाग पर कब्जा करने की कोशिश करके शासन कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करके शासन चलाने का प्रयास कर रहे हैं। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिका थी अंग्रेजों द्वारा स्थापित वर्चस्व का क्षरण करने और राष्ट्रीय आंदोलन का प्रति वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करना तथा जनता के दिलो-दिमाग को जीतने के लिए संघर्ष चलाना।

अंग्रेजों ने अपना वर्चस्व दो मुख्य तरीकों से स्थापित किया था— ब्रिटिश शासन की सद्भावना को साबित करके और इसकी अजेयता स्थापित करके। राष्ट्रीय आंदोलन का समूचा दौर— शुरुआत से लेकर गांधीवादी चरण तक— मूल तौर पर ब्रिटिश सद्भावना और ब्रिटिश अजेयता के जुड़वां धारणाओं को लगातार ध्वस्त करने की कोशिश था। शुरुआती राष्ट्रवादी नेतृत्व ने ब्रिटिश सद्भावना की धारणा का मुकाबला आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार से करने की कोशिश की। इस विचार के मुताबिक ब्रिटिश शासन कुल मिलाकर भारतीय जनता के आर्थिक हितों के विरुद्ध था। गांधीवादी चरण में आंदोलन ने इस विचार से आगे बढ़कर ब्रिटिश शासन की अजेयता को उसके विरुद्ध सफल संघर्ष संचालित करके क्षरित करने की कोशिश की। निम्नांकित बातों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की गांधीवादी रणनीति के कुछ आवश्यक घटकों के बतौर समझा जा सकता है:

- शत्रु की प्रकृति की समुचित और वैज्ञानिक समझदारी हासिल करने पर यह आधारित थी। गांधी के दिमाग में यह स्पष्ट था कि सभी स्थितियों में सभी रणनीतियां प्रभावी नहीं होतीं। उन्हें समझ में आया कि भारत में औपनिवेशिक राज्य जर्मनी के हिटलर या रूस के जार से भिन्न है। यह शासन अर्ध-सत्तावादी या एक तरह का कानूनी सत्तावादी शासन है। ब्रिटिश शासन शक्ति पर तो आधारित है लेकिन कुछ नागरिक संस्थाओं के निर्माण पर भी आधारित है। अंग्रेजों ने संवैधानिक अवकाश उपलब्ध कराया और कभी कभी रियायतें देने को भी तैयार थे। इसके अलावा यह ऐसी सरकार थी जो ब्रिटिश संसद और इंग्लैंड के जागरूक जनमत के सामने जवाबदेह थी। ब्रिटिश शासन की इस प्रकृति ने और गांधी की इसकी समझ ने इसके विरोध की विशिष्ट गांधीवादी रणनीति के निर्माण में कुछ भूमिका निभाई। गांधी के दिमाग में यह बात स्पष्ट थी कि सभी स्थितियों में प्रति-वर्चस्व बनाने की यही रणनीति समान रूप से प्रभावी नहीं भी हो सकती है और रणनीति को संदर्भ के मुताबिक होना होगा।

- संघर्ष जनता की सहायता से चलेगा। आंदोलन की मुख्य ताकत बौद्धिकों या किसी विशेष वर्ग या प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं से नहीं, बल्कि जनता से आएगी। इसके लिए वर्ग टकराव की जगह वर्ग समायोजन की राजनीति करने की जरूरत पड़ी। एक ही संघर्ष में शामिल विरोधी वर्गों के हितों का निपटारा अक्सर आसान नहीं होता था। आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय हितों को वर्गीय हितों के साथ मिलाना अक्सर बेहद चुनौती भरा काम हो जाता था। किसानों और मजदूरों समेत समस्त जनता को साम्राज्यवाद—विरोधी मोर्चे पर गोलबंद करना था।
- जनता को किसी मजबूत नैतिक आधार पर गोलबंद करना था। जन गोलबंदी के अभियानों में नस्ली या धार्मिक मुद्दों से परहेज किया गया। खिलाफत आंदोलन नियम नहीं, अपवाद था। दो महत्वपूर्ण नैतिक मुद्दे उठाए गए और वे थे 1919 में जलियांवाला बाग हत्याकांड और 1930 में नमक सत्याग्रह। महत्वपूर्ण नैतिक मुद्दों को उठाने और नस्ली या धार्मिक मुद्दों से परहेज करने का चुनाव बेहद महत्वपूर्ण था। इससे सुनिश्चित हो गया कि आंदोलन ब्रिटिश जनता के विरुद्ध जवाबी नस्लवाद में नहीं पतित होगा। आंदोलन को ब्रिटिश समाज में भी काफी सहयोग मिला और वहां की मीडिया ने भी भारत के हितों को जगह दी। धार्मिक मुद्दों से परहेज करना इसलिए भी जरूरी था ताकि आंदोलन एक धार्मिक समुदाय के विरुद्ध दूसरे धार्मिक शिकायतों को ही न उठाने लगे।
- आंदोलन लगातार चलने वाला संघर्ष था लेकिन इसे विभिन्न चरणों में लड़ा जाना था। संघर्ष और शांति के चरण एक के बाद एक आने थे। 1922 में असहयोग आंदोलन को वापस लिया गया और इसके बाद लंबी अवधि तक रचनात्मक कार्यक्रम चला। इस दौरान खादी और चरखा को प्रोत्साहित किया गया, ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया, वैकल्पिक राष्ट्रीय शिक्षा तैयार की गई, सांप्रदायिक एकता और सौहार्द के लिए काम हुआ, अस्पृश्यता से लड़ाई लड़ी गई तथा विदेशी वस्तुओं और शराब का बहिष्कार किया गया। इसी तरह सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के बाद संवैधानिक दौर चला जिसमें कांग्रेस ने प्रांतीय विधायिका का चुनाव लड़ा और सात प्रांतों में सरकार बनाई। इस प्रकार सरकार के साथ खुले टकराव के दौरों के बाद मौजूदा कानून और संवैधानिक ढांचे के भीतर काम करने के चरण आते रहे।
- संघर्ष को विभिन्न चरणों में चलाने की बड़ी वजह गांधी का यह अनुभव था कि जनता के पास ऊर्जा का अक्षय स्रोत नहीं है और संघर्ष के सक्रिय चरण के बाद उन्हें विराम की जरूरत पड़ती है। बलिदान (अन्य चीजों के साथ भारी जुर्माना, कैद, नौकरी छूटना, जमीन से बेदखली) की उनकी क्षमता सीमित होती है और उसकी परवाह न करना ठीक नहीं। बिपन चंद्रा लिखते हैं: "..... अपने स्वभाव से ही कोई जन आंदोलन अनंत काल तक या लंबे समय तक चलाया या टिकाया नहीं जा सकता। किसी भी जन आंदोलन में देर सबेर उतार आता है। कोई भी जन आंदोलन स्थायी रूप से ज्वार की दशा में नहीं रह सकता। जन आंदोलनों का जीवन छोटा होता है, आराम और सुदृढ़ीकरण का 'सांस लेने' का समय बीच में आना चाहिए ताकि आंदोलन सुदृढ़ हो सके, स्वास्थ्य लाभ कर संघर्ष के अगले दौर के लिए बल अर्जित कर सके।" (बिपन चंद्रा, *इंडियन नेशनल मूवमेंट*, पृष्ठ 51)। बहरहाल संघर्ष को विभिन्न चरणों में चलाया गया इस तथ्य का यह मतलब नहीं कि इन चरणों के बीच टूटन थी या आंदोलन के बड़े लक्ष्य एक चरण से दूसरे चरण तक नहीं ले जाए जा सके। खुद गांधी ने कई बार इशारा किया कि मूलतः यह एक ही आंदोलन था और तब तक चलना है जब तक अंतिम लक्ष्य न हासिल हो जाए। सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के बाद उन्होंने

लिखा: ".....सविनय अवज्ञा के स्थगन का अर्थ लड़ाई का स्थगन नहीं है। लड़ाई तो तभी खत्म होगी जब भारत को उसका ही बनाया हुआ संविधान मिल जाए।"

- रणनीति का यह भी एक पहलू था कि अंग्रेजी राज द्वारा छोड़ी गई हर जगह पर कब्जा जमाया जाए। इस तरह से सत्ता पर दावा एकबारगी नहीं, बल्कि टुकड़े टुकड़े में होना था। इसलिए 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के द्वैध शासन के जरिए या 1935 के ऐक्ट के जरिए प्रांतीय स्वायत्तता मिलने पर कितना भी धीरे धीरे और सीमित तौर पर जब संवैधानिक क्षेत्र खुला तो आंदोलन ने उसका इस्तेमाल किया। इसके पीछे राष्ट्रीय आंदोलन को सामाजिक-राजनीतिक जीवन के विविध क्षेत्रों तक फैला देना था। राष्ट्रीय आंदोलन जिस तरह गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम के जरिए गांवों में पहुंचा उसी तरह इसकी संवैधानिक गतिविधियों के जरिए विधायी निकायों तक पहुंचा। ये सभी विविध प्रकार की गतिविधियां एक साझा रणनीति के जरिए एक दूसरे से जुड़ी हुई थीं।
- अंतिम बात कि अहिंसा पर जोर आंदोलन की रणनीति का बहुत केंद्रीय तत्व था। इसे जरूरी समझा गया कि कार्यकर्ता आधारित भूमिगत आंदोलन के विपरीत जनता का दीर्घकालीन संघर्ष अहिंसक होगा। किसी भी हिंसक संघर्ष में जन भागीदारी का मानव मूल्य बेहद अधिक हो सकता है। इसके अलावा हिंसक आंदोलन के लिए टिकाऊ आधार पर जन गोलबंदी मुश्किल होगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के कारण आंदोलन को व्यापक समर्थन और जन आधार हासिल हो सका। इसलिए यह स्पष्ट होना चाहिए कि आंदोलन के लिए यह रणनीतिक जरूरत थी। मार्च 1930 में डांडी मार्च शुरू करने से पहले अपने अनुयायियों को गांधी ने खुद अहिंसा की रणनीतिक प्रासंगिकता समझाई थी:

“कुछ ही दिनों में लड़ाई शुरू होने वाली है फिर भी आप सब बिना डरे कैसे आ गए? मुझे नहीं लगता है कि अगर आपको राइफल की गोली या बम का सामना करना होता तो आप यहां आते। लेकिन आपको राइफल की गोली या बम से डर नहीं लगता। क्यों? मान लीजिए मैं घोषणा करता कि मैं हिंसक अभियान चलाना चाहता हूँ जरूरी नहीं कि राइफलधारी लोगों के साथ बल्कि डंडे और पत्थर के ही साथ तो आपको लगता है कि सरकार ने अब तक मुझे आजाद छोड़ा होता? मुझे आप इतिहास में कोई एक उदाहरण दिखा सकते हैं (चाहे इंग्लैंड हो या अमेरिका या रूस) जहां एक दिन के लिए भी सरकार की हिंसक अवज्ञा बरदाश्त की गई हो? लेकिन यहां पर सरकार परेशान और उलझन में है।” (मृदुला मुखर्जी, ‘भूमिका’, सुधीर घोष, गांधी’ज एमिसरी, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ xix-xx पर उद्धृत)

32.6 गांधीवादी रणनीति: कुछ सामान्य बातें

जब हम केंद्रीकृत रणनीतिक ढांचे की मौजूदगी देखने लगते हैं तो फिर राष्ट्रीय आंदोलन की अलग अलग किस्म की गतिविधियों के बीच संपर्क भी पहचानने लगते हैं। रणनीति पर ध्यान देने से आंदोलन के कुछ विवादास्पद पहलुओं को भी हम नए परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। खासकर गांधी द्वारा लिए गए दो बड़े राजनीतिक फैसलों को लेकर उनके समय में भी और बाद के इतिहास लेखन में भी काफी बहस हुई है— एक तो 1922 में चौरी चौरा में हिंसा के बाद आंदोलन की वापसी और दूसरा 1931 में गांधी-इरविन समझौते पर हस्ताक्षर।

चौरी चौरा की हिंसा के बाद असहयोग आंदोलन की वापसी को विभिन्न तरीकों से समझा गया है। अपने जमाने में इसे हिंसा और अहिंसा के बीच राजनीतिक चुनाव का मामला माना

गया। इस सवाल पर गांधी के समझौताविहीन रुख को देखते हुए आंदोलन की वापसी के गांधी के फैसले की जड़ में इसे ही समझा गया। प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पाम दत्त ने इस सवाल को अलग तरीके से देखा। उनकी निगाह में इससे आंदोलन के 'बुर्जुआ' चरित्र का संकेत मिला और उसकी पुष्टि हुई क्योंकि गांधी आंदोलन को नियंत्रण से बाहर और संपत्तिशाली वर्गों के विरुद्ध जाने देना नहीं चाहते थे। सुमित सरकार ने अपने लेख "द लाजिक आफ गांधियन नेशनलिज्म" में गांधी-इरविन समझौते को आंदोलन के वर्ग चरित्र की याद दिलाकर व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार समझौते पर हस्ताक्षर हुए क्योंकि पूंजीपति वर्ग द्वारा काफी दबाव डाला जा रहा था और समझौते का मकसद पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करना था। आंदोलन के नियंत्रण से बाहर निकलने के डर और 'नियंत्रित जन आंदोलन' (स्वतः स्फूर्त जन आंदोलन के विपरीत) के लिए प्राथमिकता को नेतृत्व द्वारा लिए गए कई फैसलों के पीछे का मुख्य कारण माना गया। इसके बाद इन व्याख्याओं का सामान्यीकरण करके राष्ट्रीय आंदोलन की एक समग्र तस्वीर बनाई गई जो प्रभावी पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण में कथित तौर पर चलाया गया।

बहरहाल अगर हम गांधी द्वारा लिए गए विभिन्न फैसलों के पीछे के महत्वपूर्ण तत्व के बतौर 'रणनीति' की ओर ध्यान दें तो वैकल्पिक व्याख्याएँ और सामान्यीकरण मिल सकते हैं। आंदोलन के एक चरण की वापसी को गांधीवादी रणनीति के अभिन्न अंग के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सुलह या समझौते की संभावना के लिए लगातार अवकाश तलाशना भी उसी रणनीति का एक अंग था। जैसा कि गांधी ने खुद कहा: "किसी भी ईमानदार सत्याग्रही को सम्मानजनक समझौते के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।" सुलह और समझौते हमेशा ही गांधीवादी रणनीति के अनिवार्य घटक रहे।

चौरी चौरा की घटना आखिरी बार है जब गांधी ने हिंसा को प्रमुख कारण बताते हुए किसी आंदोलन को वापस लिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान शोलापुर और पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में भी हिंसा की घटनाएँ हुईं। लेकिन गांधी ने संघर्ष को वापस नहीं लिया। भारत छोड़ो आंदोलन तो पूरा ही हिंसक हो गया। लेकिन गांधी ने इस हिंसा की निंदा करने से इनकार कर दिया यह कहकर कि यह हिंसा औपनिवेशिक राज्य द्वारा थोपी गई बहुत बड़ी हिंसा की प्रतिक्रिया है।

बहरहाल आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक के रूप में 'रणनीति' पर ध्यान केंद्रित करते हुए जरूरी है कि इसे स्थिर या तयशुदा न समझा जाए। रणनीति का कोई बना बनाया खाका मौजूद नहीं था। किसी भी समय गांधी ने इसे औपचारिक रूप से सूत्रबद्ध नहीं किया। असल में तो काम करने के दौरान रणनीति विकसित हुई। इस मामले में आंदोलन के नेतागण एक साथ ही शिक्षक और शिक्षार्थी थे। वे संघर्ष के भागीदारों को शिक्षित करते हुए खुद भी सीख रहे थे। नेता लगातार प्रयोग कर रहे थे, विकसित हो रहे थे, बदल रहे थे और पुराने अनुभवों से सीख रहे थे। रणनीति के आधार स्तम्भ पूर्वनिश्चित सूत्रबद्ध सिद्धांत नहीं बल्कि ये सब चीजें थीं।

शायद गांधीवादी रणनीति का सार यह था कि आखिरी लक्ष्य— ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना— हथौड़े की एक चोट से नहीं बल्कि क्रमिक रूप से और ऐसे चरणबद्ध तरीके से हासिल किया जाएगा कि स्वतंत्रता का वास्तविक आगमन कोई नाटकीय और प्रदर्शनीय घटना न प्रतीत हो। गांधीवादी रणनीति के इस पहलू को तत्कालीन अंग्रेज इतिहासकार आर्नोल्ड टायनबी ने खूबसूरती के साथ व्यक्त किया: "उन्होंने [गांधी ने] अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना असंभव बना दिया लेकिन साथ ही उन्होंने हमारे लिए बिना विद्वेष के और बिना बेइज्जत हुए भारत को छोड़ना संभव कर दिया।..... इस

[साम्राज्यवादी] झंझट से बाहर निकलने में अंग्रेजों की मदद करके गांधी ने उनकी बहुत बड़ी सेवा की क्योंकि साम्राज्य हासिल करना तो आसान है लेकिन उससे बाहर निकलना बहुत कठिन होता है।" (बी आर नंदा, *गांधी ऐंड हिज क्रिटिक्स*, पृष्ठ 71 पर उद्धृत)

32.7 वैकल्पिक रणनीतिक दृष्टियाँ

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में गांधी की रणनीति ही प्रमुख थी; लेकिन वही एकमात्र रणनीति नहीं थी। आंदोलन पर गांधी के नेतृत्व के दौरान इस बारे में उनके विरोधी और प्रतिद्वंद्वी विचार भी थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कैसे संघर्ष किया जाए।

मुख्यधारा की गांधीवादी रणनीति को एक बड़ी चुनौती खासकर 1930 दशक में जवाहरलाल नेहरू से मिली। इस दौरान गांधी की राजनीति से नेहरू का अधिकाधिक मोहभंग होता जा रहा था और वे गांधी से दूर भी जा रहे थे। समाजवादी विचारों से नेहरू बहुत ज्यादा प्रेरित हो रहे थे और उन्हें विश्वास हो चला था कि समूची दुनिया के लिए भविष्य का चुनाव "साम्यवाद के किसी रूप और फासीवाद के किसी रूप" के बीच ही है। वैश्विक स्तर पर साम्यवाद की वांछनीयता का उन्हें भरोसा था। बहरहाल राष्ट्रीय स्तर पर समाजवाद के उभार के लिए वे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को महत्वपूर्ण पूर्वशर्त के बतौर देखते थे। नेहरू देश भर घूमे, कई लोगों से मिले और उन्हें यकीन हो गया कि 1857 के बाद भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध ऐसी कड़वाहट और इससे छुटकारा पाने की ऐसी आवेगपूर्ण इच्छा कभी नहीं थी। नेहरू के लिए यह क्रांतिकारी क्षण था और उन्हें लगा कि इस क्रांतिकारी अवसर को 1933-34 के आसपास गांधी द्वारा ग्रामोद्धार और हरिजन आंदोलन पर ध्यान केंद्रित करके भटकाया जा रहा है। नेहरू को यकीन था कि बड़े सामाजिक रूपांतरण का समय आ पहुंचा है। ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंका जा सकता है; रजवाड़ों की तानाशाही व्यवस्था खत्म हो जाएगीय भू-स्वामित्व की प्रणाली बदल जाएगीय और उद्योगों को सार्वजनिक नियंत्रण में ले लिया जाएगा। यह सब कुछ थोड़े समय में ही हासिल किया जा सकता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खात्मे से चिनगारी भड़केगी और अन्य चीजें डोमिनो प्रभाव से घटित होंगी। यह पूरी तरह से अलग परिप्रेक्ष्य था और इसके चलते गांधी से राजनीतिक अलगाव के मुहाने पर नेहरू पहुंच गए।

संक्षेप में नेहरू की वैकल्पिक रणनीति में निम्नांकित बातें शामिल थीं: साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष ऐसी अवस्था में पहुंच चुका है कि साम्राज्यवाद के साथ उसके खात्मे तक समझौताविहीन और सतत टकराव चलाया जा सकता है। इसमें कोई समझौता या पीछे हटने की बात नहीं होगी। संवैधानिकता या गांधीवादी रचनात्मक काम की ओर पलटना और बीच का रास्ता नहीं होगा। इसीलिए नेहरू 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के तहत प्रांतों में सरकार बनाने वाले कांग्रेसजन के पूरी तरह विरोधी थे। इसे वे साम्राज्यवाद के साथ समझौता समझते थे। बुनियादी तौर पर नेहरू की रणनीति सत्ता दखल की थी अलबत्ता अहिंसक जन संघर्ष के जरिए।

लेकिन नेहरू जानते थे कि गांधी उनकी विश्वदृष्टि से सहमत नहीं हैं और जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि गांधी को नेहरू की अपनी स्थिति से सहमत करना कठिन होगा। कांग्रेस पर गांधी के प्रभाव का उनका आकलन भी ठीक नहीं था। नेहरू को लग गया कि अपनी नई विश्वदृष्टि से कांग्रेस को वे सहमत नहीं करा सकेंगे। इसलिए अपने क्रांतिकारी प्रकल्प को आगे ले जाने के लिए उन्हें कांग्रेस छोड़ना होगा। इस प्रकल्प में नेहरू को कुछ सोशलिस्ट कांग्रेस नेताओं का समर्थन हासिल था जिन्होंने 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी एस पी) का गठन किया था। लेकिन नेहरू को लगा कि इस क्रांतिकारी प्रकल्प के

अतिरिक्त कांग्रेस सोशलिस्टों के साथ उनका बहुत कुछ साझा नहीं है। इस तरह नेहरू की वैकल्पिक रणनीति केवल कागज पर तथा नेहरू के चिंतन और लेखन में रह गई। सामाजिक ताकत में इसका रूपांतरण नहीं हो सका। नेहरू के पास सांगठनिक संसाधन नहीं था और वे कांग्रेस छोड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि वह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का चालक थी। नेहरू को यह भी लगा कि उनके द्वारा अपनी वैकल्पिक रणनीति पर जोर देने से कांग्रेस और आंदोलन में विभाजन हो सकता है। और नेहरू साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों में विभाजन के लिए तैयार नहीं थे। 1930 दशक के पूर्वार्ध में अपनी वैकल्पिक रणनीति पर विचार करने के बाद नेहरू ने 1937 के बाद गांधीवादी रणनीति को मंजूर जैसा कर लिया और कमोबेश गांधी द्वारा अनुबद्ध शर्तों पर संघर्ष करने के लिए राजी हो गए।

कुछ अन्य अवसर भी आए जब गांधी के नेतृत्व और रणनीति के लिए चुनौतियां पेश की गईं। उदाहरण के लिए 1938 और 1939 में कांग्रेस अध्यक्ष के बतौर सुभाष चंद्र बोस ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का गतिपथ बदलने की कोशिश की। इसके बाद जो टकराव हुआ उसका परिणाम निकला कांग्रेस से बोस का अलगाव और कांग्रेस से उनका निष्काषण तथा उनके द्वारा अलग 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना। लेकिन बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि प्रभावी गांधीवादी रणनीति को चुनौती देने की सबसे गंभीर कोशिश नेहरू ने की थी। लेकिन जैसा हुआ कि कांग्रेस की रणनीति में कोई बड़ी टूट फूट नहीं आई और राष्ट्रीय आंदोलन गांधी के नेतृत्व में उनकी रणनीति का अनुसरण करते हुए लड़ा जाता रहा।

32.8 सारांश

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन, खासकर गांधीवादी चरण में, एक स्पष्ट, दीर्घकालीन रणनीति की सहायता से लड़ा गया। इस रणनीति के निर्माता गांधी थे। आंदोलन की विभिन्न गतिविधियों और कार्यनीतियों के दौरान जो भी बदलाव दिखाई पड़ते हैं वे मोटे तौर पर उसी रणनीति के मातहत थे। यह रणनीति पहले से मौजूद कोई चीज नहीं थी। न ही इसका तैयारशुदा कोई खाका था। अनुभवों के साथ यह विकसित और निर्मित होती गई। गांधी के किसी एक लेखन में यह सूत्रबद्ध भी नहीं मिलेगी। फिर भी इस बात के संकेत मिलते हैं (गांधी के लेखन, उनकी गतिविधियों और उनके कुछ समकालीनों के लेखन में भी) कि गांधी रणनीति की एक तीक्ष्ण समझ के साथ आंदोलन चला रहे थे।

यह रणनीति साम्राज्यवाद को सीधे उखाड़ फेंकने की नहीं थी, टुकड़े टुकड़े दीर्घकालीन संघर्ष की थी जिसे कई चरणों में संचालित किया गया। इस रणनीति का मुख्य मकसद ऐसे हालात पैदा कर देना था जिसमें अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना असंभव हो जाए और वे देश छोड़ने के लिए मजबूर हो जाएं। यह रणनीति आंशिक रूप से भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की प्रकृति और आंदोलन के नेतृत्व द्वारा उस प्रकृति की तीक्ष्ण समझ का परिणाम थी। भारत पर अंग्रेजों ने अपना शासन पशुबल के सहारे नहीं, बल्कि अर्ध-सत्तावादी तरीके से चलाया जिसमें उन्होंने भारतीयों में समर्थन का एक आधार बनाया और उनके दिलो-दिमाग तक पहुंचने की कोशिश की। इसके विरोध में राष्ट्रवादी आंदोलन की रणनीति औपनिवेशिक शासकों के वर्चस्व को क्षरित करना और इसकी जगह पर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति-वर्चस्व की स्थापना की कोशिश करना था।

अहिंसक संघर्ष, व्यापक जनता की सक्रिय भागीदारी, विभिन्न चरणों में संघर्ष का संचालन, आंदोलन के चरण के बाद रचनात्मक कार्यक्रम के चरण, सुलह-समझौते के लिए तैयार रहना (जैसे 1931 में गांधी-इरविन पैक्ट), अंग्रेजों द्वारा निर्मित रचनात्मक भी संवैधानिक स्थान

का उपयोग, नए नए समूहों और क्षेत्रों तक राष्ट्रीय आंदोलन के घेरे को फैलाना— ये गांधीवादी रणनीति के कुछ बुनियादी घटक थे।

गांधी के इस रणनीतिक ढांचे को सबसे गंभीर चुनौती 1930 के दशक में जवाहरलाल नेहरू से मिली। उन्होंने एक वैकल्पिक रणनीति प्रस्तुत की जिसमें साम्राज्यवाद के खात्मे तक बिना किसी रुकावट, वापसी या समझौते के साम्राज्यवाद के विरोध में एक बड़ा संघर्ष होना था। नेहरू के अनुसार इस तरह के जुझारू संघर्ष से भारतीय समाज को समाजवादी खाके की सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक रूपांतरण के लिए तैयार भी किया जा सकेगा। बहरहाल नेहरू को जल्दी ही महसूस हो गया कि कांग्रेस के भीतर उनकी रणनीति के लिए पर्याप्त समर्थन नहीं है और इस विकल्प पर अधिक जोर देने से कांग्रेस और साम्राज्यवाद—विरोधी संघर्ष में टूट पैदा हो सकती है। नेहरू को यह भी महसूस हुआ कि साम्राज्यवाद—विरोधी संघर्ष का सबसे प्रभावी मंच कांग्रेस ही है और अगर कांग्रेस किसी भी तरह से कमजोर होती है तो यह संघर्ष भी कमजोर हो जाएगा। इसलिए नेहरू ने अपनी वैकल्पिक दृष्टि पर टूट की हद तक जोर नहीं दिया और 1937 के आते आते कदम पीछे खींचकर संघर्ष की गांधीवादी रणनीति के भीतर ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करने के लिए राजी हो गए।

32.9 अभ्यास

- 1) औपनिवेशिक भारत में राज्यसत्ता की प्रकृति पर विचार कीजिए।
- 2) भारत में साम्राज्यवाद से लड़ने की गांधीवादी रणनीति का वर्णन कीजिए।
- 3) गांधीवादी रणनीति के विकल्प के रूप में कौन सी रणनीतियां पेश की गईं?

संरचना

- 33.1 प्रस्तावना
- 33.2 सांप्रदायिक समस्या
- 33.3 सांप्रदायिक समस्या और राष्ट्रवादी आंदोलन
- 33.4 सांप्रदायिक समस्या के बारे में कांग्रेसी नजरिया
- 33.5 कांग्रेसी नजरिए का मूल्यांकन
- 33.6 जवाहरलाल नेहरू और सांप्रदायिकता
- 33.7 सारांश
- 33.8 अभ्यास

33.1 प्रस्तावना

यह इकाई सांप्रदायिक समस्या को लेकर राष्ट्रवादी नेतृत्व के अनुभवों के बारे में है। इसमें यह बताया गया है कि राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सांप्रदायिक प्रश्न को कैसे समझा और सांप्रदायिक प्रश्न से निपटने के लिए क्या कोशिश की। इसमें आप इस बात को जानेंगे कि राष्ट्रवादी आंदोलन के समूचे जीवन में सांप्रदायिक समस्या मुख्य समस्या रही और राष्ट्रवादी आंदोलन के सफल संचालन के लिए सांप्रदायिक प्रश्न से निपटना एक वास्तविक पूर्वशर्त बन गया था। इस इकाई की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के बाद से ही भारतीय समाज और राजनीति में उभरी सांप्रदायिकता का जायजा लेने से होगी। इसके बाद राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ सांप्रदायिकता के संबंध का सवाल उठाया जाएगा। सांप्रदायिक समस्या से निपटने के लिए कांग्रेस नेतृत्व द्वारा किए गए विभिन्न प्रयासों की चर्चा की जाएगी। इसके अलावा कांग्रेस नेतृत्व के प्रयासों की परीक्षा और मूल्यांकन होगा तथा उनकी प्रासंगिकता का भी विवेचन होगा। अंत में जवाहरलाल नेहरू और सांप्रदायिक प्रश्न से निपटने के उनके तरीकों पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा।

33.2 सांप्रदायिक समस्या

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं सदी बड़े बदलावों की सदी थी। इसके पहले कभी इतने गहरे और तेज बदलाव नहीं हुए थे। ब्रिटिश शासन ने बहुत मजबूती से अपने को स्थापित कर लिया और भारतीय समाज के अंदरूनी हिस्सों में उसका प्रवेश शुरू हुआ। यही समय आधुनिक औद्योगिक अर्थतंत्र के उदय, गतिशीलता और विस्थापन का भी था।

इन विराट बदलावों के प्रभाव से पारंपरिक सामाजिक संरचना में भी उथल पुथल शुरू हो गई। जिस तरह के बदलाव आए उनकी कहानी एम एन श्रीनिवास ने *सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया* में सुनाई है। संक्षेप में, भारत की सामुदायिक संरचना घालमेल और फिर से निर्मित होने की प्रक्रिया से गुजरी। आम तौर पर भारत की पारंपरिक समुदाय संरचना की विशेषता बहुलता और सामासिकता थी। असंख्य छोटे और स्थानीय संप्रदाय मौजूद थे जिनके बीच धुंधली और छिद्रिल विभाजक रेखाएं थीं। खासकर जहां तक धार्मिक जीवन

का संबंध है तो विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच काफी सामासिकता और परस्पर व्याप्ति थी। उन्नीसवीं सदी से पहले के भारतीय समाज में हिंदू संप्रदाय या मुस्लिम संप्रदाय की बात करना संभव नहीं था। इसकी जगह यह कहना सही होगा कि ढेर सारे हिंदू समुदाय थे, ढेर सारे मुस्लिम समुदाय थे और ढेर सारे समुदाय ऐसे थे जो एक ही साथ हिंदू और मुस्लिम दोनों थे। धार्मिक जीवन बहुत कुछ कर्मकांड के स्तर पर बिताया जाता था। आम हिंदुओं और मुसलमानों के जीवन में धर्म के केन्द्रीकृत सिद्धांतों का प्रभाव न्यूनतम था। दूसरे शब्दों में आम लोगों का धार्मिक जीवन धार्मिक सिद्धांतों या धर्म ग्रंथों से कम, स्थानीय रीति रिवाजों और लोकप्रचलित आचारों से अधिक अनुशासित होता था। लोकप्रिय हिंदू धर्म और लोकप्रिय इस्लाम की आम धार्मिक परंपराओं में एक दूसरे से बहुत भेद प्रतीत नहीं होता था। मुस्लिम बहुसंख्यक दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों, बंगाल और पंजाब से इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए अनगिनत उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन दोनों क्षेत्रों के लिए विद्वानों ने यह दर्ज किया है कि उच्च शास्त्रीय इस्लाम का प्रभाव बहुत कम था और सूफी तथा सामासिक इस्लाम का असर बहुत गहरा और व्यापक था। यही बात हिंदुओं और अन्य समुदायों के बारे में भी सही है।

मोटे तौर पर कहा जाए तो उन्नीसवीं सदी के विराट बदलावों ने भारत की सांप्रदायिक स्थिति को दो दिशाओं में बदलना शुरू किया। एक ओर क्षेत्र, धर्म और संस्कृति के परे भारतीय जनता का एक राष्ट्रीय समुदाय बनना शुरू हो गया। दूसरी ओर भारतीय धार्मिक समुदायों के विविधतापूर्ण कच्चे माल से आंतरिक रूप से मानकीकृत, बाह्य तौर पर भिन्नता लिए हुए, स्पष्ट रूप से पृथक्कीकृत हिंदुओं और मुसलमानों के भारत-व्यापी संप्रदायों का निर्माण शुरू हुआ। कहने का मतलब कि अखिल भारतीय चेतना वाले हिंदू संप्रदाय जैसी कोई चीज और उसी तरह की अखिल भारतीय चेतना वाला मुस्लिम संप्रदाय उभरना शुरू हुए। उनके धार्मिक अंतर तीखे हो गए तथा संस्कृति, भाषा और क्षेत्र संबंधी अंतर अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हो गए। नए प्रकार के अंतर भी खोज निकाले गए।

इस बात पर जोर देना जरूरी है कि यह बदली हुई सांप्रदायिक संरचना उन्नीसवीं सदी के रूपांतरण का परिणाम थी। अखिल भारतीय धार्मिक संप्रदायों के निर्माण के अनुभवसिद्ध यथार्थ को मानना जरूरी है। बहरहाल यह मानना भी उतना ही जरूरी है कि वे हमेशा से मौजूद नहीं थे। भारत की सामुदायिक संरचना उन्नीसवीं सदी के शुरू में जैसी थी बीसवीं सदी के शुरू में उससे एकदम अलग हो गई।

सांप्रदायिक राजनीति के विकास के लिए यह बदलाव बहुत ही अनुकूल था। सांप्रदायिकता से हमारा तात्पर्य ऐसी विचारधारा से है जो धार्मिक समुदायों को राजनीतिक निर्वाचकों में बदल देना चाहती है। सांप्रदायिक राजनीति में दो भिन्न किंतु परस्पर-संबद्ध प्रक्रियाएं शामिल रहती हैं: 1) हिंदुओं और मुसलमानों के अखिल भारतीय संप्रदायों का निर्माण और 2) इन संप्रदायों को व्यापक राजनीतिक गोलबंदियों की सेवा में लगाना।

सांप्रदायिक राजनीति का विकास बीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ और शुरू में यह समाज के मुट्ठी भर कुलीन अल्पसंख्या तक सीमित रही। व्यापक जनसमुदाय इससे अछूता रहा। बहरहाल 1920 दशक तक इस राजनीति ने मध्यवर्ग को प्रभावित करना शुरू कर दिया। 1930 दशक के उत्तरार्ध और 1940 दशक तक इसका जनाधार भी निर्मित हो गया। सांप्रदायिक राजनीति के मंच से जिस तरह की मांगें की गईं उनसे भी विभिन्न चरणों में इसके वर्ग चरित्र की आसानी से पुष्टि होती है। शुरुआती कुलीन दौर में विधायी निकायों में सीटों का आरक्षण मुख्य मांग थी। 1920 दशक के आते आते इसे रोजगार में आरक्षण तथा धार्मिक समुदायों की भाषा और संस्कृति के संरक्षण तक विस्तारित कर दिया गया।

बहरहाल 1930 दशक के उत्तरार्ध के बाद से सांप्रदायिकता को जनाधार मिलना शुरू हो गया। इस दौर में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले सांप्रदायिक संगठन मुस्लिम लीग ने तर्क देना शुरू किया कि भारत में सभी मुस्लिमों का जीवन सुरक्षित नहीं है और वे सम्मान के साथ तभी रह सकते हैं जब उन्हें उनका अपना अलग देश मिल जाए।

यहां पर यह भी कहना होगा कि ब्रिटिश सरकार ने तमाम तरह के उपायों और रास्तों से सांप्रदायिक राजनीति को प्रोत्साहन और बढ़ावा दिया। उन्होंने कुछ ऐसी सांस्थानिक संरचनाओं को जन्म दिया जो हिंदुओं को राजनीतिक रूप से मुसलमानों से अलगाती थीं। खास तौर पर इसे याद करिए कि 1909 में कानून बनाकर ब्रिटिश सरकार ने पृथक निर्वाचक मंडल की शुरुआत की। इस ऐक्ट के अनुसार मुसलमानों और हिंदुओं के लिए पूरी तरह से अलग निर्वाचक प्रक्रियाएं निर्मित की गईं। जब भारतीय समाज के लिए चुनावी लोकतंत्र शुरू किया गया तो धर्म के आधार पर अलग अलग निर्वाचक मंडलों, मतदाताओं और प्रत्याशियों के जरिए इसकी शुरुआत हुई। इसका अर्थ था कि कुछ अलग निर्वाचक मंडलों को मुस्लिम निर्वाचक मंडल कहा गया। केवल मुस्लिमों की अलग मतदाता सूची बनाई गई। इन मुस्लिम सीटों से, जिनमें केवल मुस्लिम मतदाता होते, केवल मुस्लिम प्रत्याशी ही खड़े हो सकते थे। इस व्यवस्था के तहत किसी हिंदू के लिए संभव नहीं था कि वह मुस्लिम को वोट दे सके और ऐसा ही मुस्लिम के लिए भी होना था। स्पष्ट है कि इस प्रणाली के तहत विशेष धार्मिक समुदायों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक नेताओं के लिए सफलता की संभावना अधिक थी। जिन राजनीतिक नेताओं को दोनों समुदायों का समर्थन था वे कभी सफल नहीं होते क्योंकि उनका समर्थक आधार ही विभाजित होता।

सांप्रदायिक राजनीति के उदय और प्रसार के लिए जिम्मेदार अकेला सबसे बड़ा कारण पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था है। जब मताधिकार सीमित था तो सांप्रदायिक राजनीति भी शुरू में आबादी के बहुत छोटे से हिस्से तक सीमित थी। बहरहाल धीरे धीरे जैसे जैसे मताधिकार और भी लोगों तक विस्तारित होता गया वैसे ही वैसे सांप्रदायिकता की संभावना भी बढ़ती गई। 1947 तक भारतीय राजनीति की यह विशेषता बनी रही यानी भारतीय समाज और राजनीति का बढ़ता हुआ संप्रदायीकरण भारतीय समाज और राजनीति के बढ़ते हुए लोकतंत्रीकरण से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू की गई चुनावी राजनीति के विशेष चरित्र के चलते लोकतंत्रीकरण और संप्रदायीकरण एक साथ आगे बढ़े।

33.3 सांप्रदायिक समस्या और राष्ट्रवादी आंदोलन

साम्राज्यवाद विरोध और राष्ट्रीय एकता के जुड़वा विचारों पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन आधारित था। ये दोनों विचार आपस में जुड़े हुए थे लेकिन समरूप नहीं थे। साम्राज्यवाद विरोध की परंपरा अधिक पुरानी थी और भारत पर ब्रिटेन की जीत से ही शुरू होती है। जबसे ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ तबसे ही इसके विरुद्ध विभिन्न स्थानों और विंदुओं पर विभिन्न समूह— किसान, आदिवासी, पुराने जमींदार, मुखिया— विद्रोह करते रहे। असल में 1857 का विद्रोह साम्राज्यवाद विरोधी पारंपरिक विद्रोहों की परिणति था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बाद से भारतीय राष्ट्र के क्रमिक उभार के चलते साम्राज्यवाद विरोध की पुरानी परंपरा को राष्ट्रीय एकता का साथ मिल गया। इसके बाद से इन दोनों के बीच अखंड संबंध विकसित हो गया। कहा जाने लगा और ठीक ही कहा गया कि कोई भी प्रभावी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष तभी खड़ा हो सकता है जब उसे राष्ट्रीय एकता के साथ जोड़ा

जाए। राष्ट्रीय एकता का मतलब था धर्म, संस्कृति, भाषा और क्षेत्र की भिन्नताओं से ऊपर उठकर सभी भारतीयों का साझा मंच पर साथ आना और साझा राष्ट्रीय चेतना ग्रहण करना।

यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकता की इस परियोजना की राह में सबसे गंभीर बाधा सांप्रदायिकता थी। इस प्रकार राजनीतिक राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक सांप्रदायिक एकता दो अलग रास्ते थे और बुनियादी रूप से एक दूसरे के विरुद्ध थे। एक दिशा में आपकी प्रगति दूसरे की कीमत पर ही हो सकती थी। भारतीय राजनीति की इस सचाई को औपनिवेशिक राज्य के साथ साथ और राष्ट्रीय आंदोलन के नेता भी समझते थे। लेकिन दोनों ने इससे अलग अलग निष्कर्ष निकाले। औपनिवेशिक राज्य ने समझा कि भारतीय राजनीति में अंतरधार्मिक भेदभाव को बढ़ावा देकर और राष्ट्रीय एकता को तोड़कर वे वृद्धिमान राष्ट्रीय आंदोलन की प्रभावी काट तैयार कर सकते हैं। औपनिवेशिक राज्य ने राष्ट्रीय एकता को तोड़ने की अपनी राजनीति व्यवस्थित रूप से जारी रखी। दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने संवेदनशील धार्मिक मामलों को इस तरह से हल करने का फैसला किया कि उससे धर्मों के बीच टकराव और भेदभाव न पैदा हो। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1888 में इलाहाबाद में अपने चौथे अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया जिसके मुताबिक अगर किसी धार्मिक समुदाय के बहुसंख्यक लोग उसका विरोध करें तो कांग्रेस उस मुद्दे को नहीं उठाएगी। कांग्रेस की कतारों के भीतर किसी भी तरह के धार्मिक विभाजन को समझने और रोकने के ये आरम्भिक प्रयास थे।

बहरहाल, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के दशकों के कुछ बदलावों ने राष्ट्रवादी नेतृत्व के इन भंगुर लेकिन गंभीर प्रयासों को बुरी तरह से प्रभावित किया और मुद्दे को उलझा दिया। संक्षेप में इनमें से कुछ बदलावों पर नजर मारते हैं:

- 1875 में आर्य समाज की स्थापना हुई और उत्तर भारत में वह काफी सक्रिय हो गया। इस संगठन ने साझा सामाजिक मंच पर हिंदुओं को लामबंद करने की कोशिश की। आर्य समाज की एक जुझारू शाखा ने शुद्धि नामक अभियान शुरू किया जिसके तहत उन हिंदुओं का फिर से धर्मांतरण कराया जाता था जो पहले कभी दूसरे धर्मों में चले गए थे। बहरहाल आर्य समाज की गतिविधियां शिक्षा और सुधार तक सीमित रहीं। इसी समय उत्तर भारत के मुस्लिम कुलीनों में अलीगढ़ आंदोलन नामक सांस्कृतिक और शैक्षिक आंदोलन शुरू हुआ। अलीगढ़ आंदोलन के नेता सैयद अहमद खान ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम कुलीनों के बीच भागीदारी चाहते थे। इसलिए जब 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई तो उन्होंने मुसलमानों को इससे दूर रहने की सलाह दी। आर्य समाज और अलीगढ़ आंदोलन नामक इन दो संगठनों ने उत्तर भारत के हिंदू और मुस्लिम कुलीनों के बीच एकता को रोक दिया।
- 1905 में बंगाल प्रांत को दो हिस्सों में बांटने के ब्रिटिश सरकार के फैसले के विरुद्ध कांग्रेस ने स्वदेशी आंदोलन शुरू किया। प्रस्तावित विभाजन इस तरह का था कि बंगाल के एक भाग में मुस्लिम बहुसंख्या होती। ब्रिटिश सरकार ने विभाजन को मुस्लिमों के लिए लाभदायक बताकर पेश किया। ब्रिटिश प्रचार सफल रहा और मुस्लिम स्वदेशी आंदोलन से दूर रहे। हालांकि इस आंदोलन का बुनियादी चरित्र साम्राज्यवाद विरोधी था फिर भी इसे हिंदू पहचान मिल गई। 1908 में आंदोलन का अंत आते आते हिंदू-मुस्लिम विभाजन और गहरा गया।
- 1906 में आल इंडिया मुस्लिम लीग और 1915 में आल इंडिया हिंदू महासभा की स्थापना से सांप्रदायिक समस्या में नया आयाम जुड़ गया। ये दोनों संगठन क्रमशः

मुस्लिमों और हिंदुओं के प्रतिनिधित्व का दावा करते थे। दोनों धार्मिक समुदायों के बीच की शत्रुता इन संगठनों के निर्माण के साथ नए दौर में पहुंच गई। इससे कांग्रेस के सामने धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद की राजनीति चलाने में चुनौतियां पैदा हुईं।

33.4 सांप्रदायिक समस्या के बारे में कांग्रेसी नजरिया

इस तरह कांग्रेसी नेताओं के सामने स्पष्ट था कि साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की राह में सांप्रदायिक समस्या बड़ी रुकावट थी तथा सांप्रदायिक समस्या को समझना और हल करना नितांत आवश्यक था।

उपलब्ध साक्ष्य बताते हैं कि कांग्रेसी नेतृत्व ने इस सवाल का सुसंगत और सुनियोजित रणनीतिक तरीके से सामना नहीं किया। इसकी बजाए नेतृत्व ने इस सवाल को तात्कालिकता के ढांचे में समझा और तात्कालिक राजनीतिक स्थिति के आधार पर इससे निपटा। दूसरे शब्दों में कहें तो नेतृत्व ने अलग अलग मौकों पर सांप्रदायिक समस्या का समाधान भिन्न भिन्न कार्यनीतिक विकल्पों के साथ करने की कोशिश की। ये कार्यनीतिक विकल्प एक दूसरे के साथ अनिवार्य तौर पर जुड़े नहीं थे और कभी कभी तो उनमें आपसी असंगति भी थी। यह बात साम्राज्यवाद-विरोध के प्रति कांग्रेसी नजरिए के विपरीत थी। साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष खासकर 1920 दशक के बाद से सुसंगत और सुनियोजित रणनीतिक तरीके से लड़ा गया। सांप्रदायिक समस्या के बारे में केंद्रित रणनीति जैसी कोई चीज मौजूद ही नहीं थी।

बुनियादी तौर समस्या को हल करने के स्तर पर कांग्रेसी नेतृत्व के सामने सांप्रदायिक समस्या के तीन मतलब थे:

- 1) मुसलमानों को कांग्रेस के भीतर कैसे लाया जाए?
- 2) मुस्लिम लीग की लगातार बढ़ती हुई मांगों से कैसे निपटा जाए?
- 3) हिंदू महासभा को हिंदुओं का प्रवक्ता होने से कैसे रोका जाए?

इन तीनों में से तीसरे को हासिल करना सबसे सरल और आसान प्रतीत हुआ। हिंदू महासभा से पैदा होने वाले किसी भी संभव खतरे को कांग्रेस ने प्रभावी तरीके से रोक दिया था। पहले ही बताया जा चुका है बहुत बड़ी संख्या में हिंदू कांग्रेस में शामिल हुए, स्वदेशी आंदोलन के बाद तो और भी ज्यादा। भूभागीय राष्ट्रवाद के विचारों को कांग्रेस उनमें फैला सकी। चूंकि हिंदुओं में कांग्रेस का मजबूत आधार बन चुका था इसलिए यह मुश्किल था कि संकीर्ण आधार और कुलीन राजनीति वाली हिंदू महासभा कांग्रेस के किले में कोई दरार पैदा कर सके और हिंदुओं को कांग्रेस के घेरे से बाहर ले जा सके।

शुरू में कांग्रेस का मुख्य जोर इस बात पर था कि मुस्लिमों को कैसे कांग्रेस में लाया जाए। इस सवाल पर नेतृत्व का रुख चार भिन्न कार्यनीतिक विकल्पों से निर्मित था जिन्हें अलग अलग मौकों पर आजमाया गया: (क) सुलह समझौता, (ख) केवल मुस्लिम गोलबंदी का लक्ष्य उदाहरण के लिए खिलाफत आंदोलन के दौरान अपनाया गया तरीका, (ग) सामान्य राष्ट्रवादी या वर्गीय अपील और गोलबंदी के जरिए मुस्लिमों को खींच लाने की आशा और (घ) मुस्लिम लीग और मुस्लिमों के अन्य संगठनों के भीतर सक्रिय कांग्रेसी उपस्थिति बनाए रखना। अकसर हुआ यह कि जब एक विकल्प खत्म हो जाता था तब दूसरे विकल्प को आजमाया जाता था। नेतृत्व द्वारा अपनाए गए भिन्न भिन्न कार्यनीतिक विकल्प किसी एक योजना के अंग नहीं थे बल्कि एक दूसरे से स्वतंत्र और असंबद्ध मौजूद रहे।

1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच का लखनऊ पैक्ट इस विचार पर आधारित था कि मुस्लिम लीग मुसलमानों का सच्चा प्रतिनिधि है। इस विचार की मान्यता के बतौर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग को रियायतें दीं। कांग्रेसी नेतृत्व को भरोसा था कि मुस्लिम लीग के साथ समझौते से उसे मुसलमानों तक पहुंचने में आसानी होगी। बहरहाल, समझौता कुछ रियायतों के वादे पर आधारित था। जब ब्रिटिश सरकार ने 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के जरिए उससे भी अधिक रियायतें दे दीं जितने का वादा कांग्रेस ने किया था तो यह समझौता बेकार हो गया।

गांधी के नेतृत्व में लड़े गए खिलाफत आंदोलन ने कांग्रेस को मुसलमानों को अपने घेरे में लाने का एक और मौका उपलब्ध कराया। खिलाफत आंदोलन मूल तौर पर ऐसे वैश्विक राजनीतिक माहौल की उपज था जिसमें साम्राज्यवाद-विरोध और सर्व-इस्लामवाद (पैन-इस्लामिज्म) के विचार एक साथ चल रहे थे। भारत में इसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रवादियों और इस्लामी ताकतों के बीच गंठजोड़ के रूप में हुई। आंदोलन के दौरान मुसलमानों की गोलबंदी की कार्यनीति के बतौर खिलाफत आंदोलन बेहद सफल रहा। बड़े पैमाने पर मुसलमान कांग्रेस की गतिविधियों का हिस्सा बने। सांप्रदायिक घटनाओं में उल्लेखनीय गिरावट आई। गोकुशी और मस्जिदों के सामने बाजा बजाने को लेकर झगड़े काफी कम हो गए।

बहरहाल यह विराट गठबंधन चौरी चौरा में हिंसा के बाद असहयोग की वापसी और खुद तुर्की में खलीफा की संस्था के खात्मे के कारण खिलाफत के मुद्दे के गायब हो जाने के चलते खत्म हो गया। इस गठबंधन का खात्मा कड़वा साबित हुआ और सांप्रदायिक गतिविधियों में काफी बढ़ोत्तरी देखी गई। इतिहासकारों का तर्क है कि खिलाफत के प्रयोग ने राजनीति में धर्म के प्रवेश को वैधता देकर और इस तरह दूरगामी दृष्टि से सांप्रदायिकता को मजबूत बनाकर धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद के लक्ष्य को नुकसान पहुंचाया। बिपन चंद्रा का कहना है:

‘चूंकि साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन में मुस्लिम जनगण और निम्न मध्य वर्ग ऊपर के नेताओं में समझौते के जरिए तथा धार्मिक मुद्दे पर शरीक किए गए इसलिए वे इसमें अपनी मौजूदा चेतना के साथ आए। आंदोलन में उनकी शिरकत अपने लोकतांत्रिक और आर्थिक अधिकारों की रक्षा और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि धार्मिक मामले के बतौर हुई थी। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस समझौते की शर्तों ने ही गांधी और राष्ट्रवादी नेतृत्व को इस मौके का इस्तेमाल करके असहयोग आंदोलन-और-खिलाफत आंदोलन में शरीक मुस्लिम जनता के भीतर एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना या सामाजिक शक्तियों की समझदारी पहुंचाने से रोक दिया।’ (बिपन चंद्रा, *नेशनलिज्म ऐंड कोलोनियलिज्म इन माडर्न इंडिया*, पृष्ठ 260)

1920 दशक के उत्तरार्ध के बाद से वामपंथी राजनीति के उभार ने खिलाफत आंदोलन का विकल्प मुहैया कराया। कांग्रेस के भीतर मुस्लिमों को लाने के लिए अब राजनीति में धर्म को लाना जरूरी नहीं माना जाने लगा। वामपंथी प्रभाव में ऐसे नजरिए को न केवल अवांछनीय माना जाता बल्कि पुराना और मध्ययुगीन भी समझा जाता। जवाहरलाल नेहरू का विश्वास था कि असल में धर्म तमाम सांप्रदायिक समस्याओं का स्रोत है और इसे सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक पहलू से बाहर रखना होगा। कुछ कांग्रेसी नेताओं ने अब कहना शुरू किया कि कांग्रेस को मुसलमानों तक उन्हें मुस्लिम मानकर नहीं बल्कि मजदूरों, किसानों, मध्य वर्ग आदि का हिस्सा मानकर या सिर्फ भारतीय समझकर पहुंच बनानी चाहिए। महसूस किया जाने लगा कि अलग से धार्मिक अपील गैर जरूरी है। 1937 में यू

पी के एक महत्वपूर्ण कांग्रेसी नेता रफी अहमद किदवई ने एक मजेदार वक्तव्य जारी किया जिसमें स्पष्ट किया गया था कि धार्मिक समुदायों के बीच या सांप्रदायिक संगठनों के साथ समझौते अतीत की बात हो चुके हैं:

‘मौलाना शौकत अली और श्री जिन्ना को समझना चाहिए कि हम 1920 दशक के भारत में नहीं रह रहे हैं। हम आगे बढ़ चुके हैं और अगर श्री जिन्ना तथा मौलाना शौकत अली समय के साथ नहीं चल सकते तो यह हमारी गलती नहीं है। पुराने विभाजन (समाज में) तेजी से गायब हो रहे हैं और उनकी जगह नए विभाजन पैदा हो रहे हैं। 1920 से 1930 तक प्रमुख समुदाय धार्मिक थे— हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिख आदि।..... आज उनकी जगह वर्ग पर आधारित समुदायों ने ले ली है— तालुकदार, जमींदार, किसान— मजदूर, मिल मालिक और उपभोक्ता। पिछले चुनावों में जिन लोगों ने देहातों में काम किया वे जानते हैं कि कांग्रेस की किसानों से जुड़ी गतिविधियों में मुस्लिम किसानों की भी उतनी ही रुचि है जितनी हिंदुओं की। यह तो स्वाभाविक है।..... हम (इसलिए) हिंदू—मुस्लिम समस्या को सुलझाने के लिए दोनों समुदायों की बैठक बुलाने नहीं जा रहे हैं।’ (सलिल मिश्रा, *ए नैरेटिव आफ कम्यूनल पालिटिक्स*, उत्तर प्रदेश, 1937—39, पृष्ठ 227 पर उद्धृत)

1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना से इस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला क्योंकि वह कांग्रेस में अधिकाधिक मुस्लिमों को लाने के लिए धार्मिक की बजाए वर्गीय कोटियों पर भरोसा करती थी।

लगभग इसके साथ ही कांग्रेस में सांप्रदायिक संगठनों से प्रभावी रूप से निपटने के तरीकों के सवाल पर एक और चिंतनधारा का जन्म हुआ। इसके तहत सांप्रदायिक संगठनों में सक्रिय उपस्थिति बनाए रखी गई ताकि सांप्रदायिकता की ढलान पर लुढ़कने से उन्हें रोका जा सके। इस चिंतन के तहत कुछ कांग्रेसी नेता मुस्लिम लीग या हिंदू महासभा में शामिल हुए। मदन मोहन मालवीय, लाजपत राय (1928 में अपनी मृत्यु तक) और बी एस मुंजे कांग्रेस और हिंदू महासभा दोनों के सदस्य रहे। इसी तरह सुलेमान अंसारी, हाफिज इब्राहीम, एम सी छागला और खलीकुज्जमां कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के सदस्य रहे। 1920 के दशक में जवारलाल नेहरू, मौलाना आजाद, सरोजिनी नायडू, आसफ अली जैसे महत्वपूर्ण कांग्रेसी नेता अक्सर मुस्लिम लीग के अधिवेशनों में जाते रहे। कभी कभी कांग्रेसी नेताओं ने मुस्लिम लीग के मंच से भाषण भी दिए।

ऐसा लगता है कि भीतर से और कुछ घुसपैठ करके सांप्रदायिकता को रोकने का तरीका 1920 के दशक में चलन में था और 1930 के दशक में अनाचरित हो गया। 1920 दशक के उत्तरार्ध के बाद एक ओर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच तथा दूसरी ओर कांग्रेस और महासभा के बीच टकराव कुछ बढ़ गए तथा कांग्रेसी नेताओं को दोनों संगठनों में पांव जमाए रखने में कठिनाई होने लगी। बहरहाल 1938 में आकर ही कांग्रेस हाइ कमान कांग्रेस के पदाधिकारियों को मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा जैसे सांप्रदायिक संगठनों के साथ दोहरी सदस्यता रखने से मना कर सका।

जहां तक सांप्रदायिक समस्या के बारे में कांग्रेसी दृष्टिकोण का सवाल है 1937 का साल बेहद महत्वपूर्ण है। इसी साल पृथक निर्वाचक मंडल के आधार पर पहले आम चुनाव संपन्न हुए। चुनाव परिणामों से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए। जो मुस्लिम सीटें थीं यानी जिन पर केवल मुस्लिम वोट दे सकते थे उनमें कांग्रेस का प्रदर्शन बेहद खराब रहा। कुल 485 मुस्लिम सीटों में से कांग्रेस 58 पर लड़ी थी और 26 सीटों पर उसे विजय मिली। बहरहाल इससे भी रोचक बात यह थी कि मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम लीग का प्रदर्शन भी

बहुत अच्छा नहीं रहा। इसे सौ से कुछ अधिक सीटें मिलीं जो कुल मुस्लिम सीटों का लगभग 20 प्रतिशत थीं और उसे कुल मुस्लिम मतों में लगभग 5 प्रतिशत वोट मिले। स्पष्ट था कि मुस्लिम सीटों पर हालांकि मुस्लिम लीग का प्रदर्शन कांग्रेस के मुकाबले बेहतर था लेकिन लीग के लिए यह प्रदर्शन संतोषजनक तो एकदम नहीं था। अधिकांश मुस्लिम सीटें या तो क्षेत्रीय दलों को मिलीं या स्वतंत्र प्रत्याशी जीते या फिर स्थानीय छोटे दलों को विजय मिली। यह भी स्पष्ट हो गया कि अब भी मुस्लिम मतदाता किसी भी प्रमुख राजनीतिक वैचारिक प्रभाव से बाहर थे चाहे वह राष्ट्रवादी वैचारिकी हो या फिर सांप्रदायिक वैचारिकी।

इसी पृष्ठभूमि में जवाहरलाल नेहरू नए नजरिए के साथ सामने आए। इस नए नजरिए में सांप्रदायिक संगठनों की उपेक्षा की जानी थी क्योंकि चुनाव परिणामों से उनकी प्रतिनिधित्वहीनता स्पष्ट हो गई थी। इसकी जगह कांग्रेस को सीधे मुस्लिम जनता तक पहुंचना था और उन्हें संगठन के दायरे में ले आना था। उम्मीद यह थी कि इस तरह कांग्रेस सांप्रदायिक समस्या से प्रभावी तौर पर निपट सकेगी। कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से नेहरू ने सभी प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को परिपत्र जारी किया कि वे 'मुस्लिम कांग्रेस सदस्य बनाने के लिए विशेष प्रयास करें।' अप्रैल 1937 में कांग्रेस द्वारा मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम शुरू किया गया। इस कार्यक्रम ने मुस्लिम लीग के नेताओं के कान खड़े कर दिए और उन्होंने भी मुस्लिम जनसमुदाय तक पहुंच बनाने के लिए इसी तरह का कार्यक्रम शुरू करने का फैसला किया। कांग्रेस का अभियान 1939 तक चला और उसके बाद शांत होकर आखिरकार बंद हो गया। इस तरह 1940 तक कांग्रेस नेतृत्व ने सांप्रदायिक समस्या से निपटने के लिए तमाम तरह के विकल्प आजमा लिए थे।

33.5 कांग्रेसी नजरिए का मूल्यांकन

आम तौर पर कहा जा सकता है कि कांग्रेस के नजरिए को सफलता और असफलता दोनों मिली। या कुछ मामलों में तो यह कामयाब रहा तथा कुछ अन्य मामलों में इसे कामयाबी नहीं मिली।

जहां तक हिंदू सांप्रदायिकता और उसके संगठन हिंदू महासभा का सवाल है तो इस मामले में कांग्रेस का दृष्टिकोण बेहद सफल रहा। अगर कोई मजबूत सांप्रदायिक हिंदू संगठन होता तो शायद वह कांग्रेस को राजनीतिक तौर पर महत्वहीन बनाने में सक्षम हो जाता। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। हिंदू महासभा के गठन के काफी पहले से भारी संख्या में हिंदू कांग्रेस में शामिल रहे, स्वदेशी आंदोलन के बाद से तो निश्चित ही। हिंदू महासभा के गठन के बाद भी वे कांग्रेस में ही रहे। हिंदू महासभा कुलीनों का संगठन बनकर रह गया। उसे व्यापक समर्थन हासिल नहीं हो सका। इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि तत्कालीन सभी बड़ी राजनीतिक ताकतों— ब्रिटिश, कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने उसकी उपेक्षा ही की। 1937 और 1946 के आम चुनाव हिंदू महासभा लड़ी लेकिन उसे हिंदुओं का राजनीतिक समर्थन नहीं मिला। 1946 के महत्वपूर्ण चुनावों में कुल हिंदू वोटों में उसे 1 प्रतिशत मत मिल सके। राष्ट्रीय आंदोलन के समूचे दौर में हिंदू सांप्रदायिकता की ताकतें बेहद कमजोर रहीं। यह कहा जा सकता है कि अपनी गतिविधियों के जरिए कांग्रेस अधिकतर हिंदुओं में भूभागीय राष्ट्रवाद का विचार ले जाने में कामयाब रही। निश्चित रूप से यह कांग्रेसी नेतृत्व की एक बड़ी सफलता थी।

बहरहाल कुछ अन्य मामलों में कांग्रेस के दृष्टिकोण को असफल मानना होगा। मुस्लिमों को कांग्रेस के दायरे में ले आना और मुस्लिम सांप्रदायिक संगठनों को राजनीतिक और

वैचारिक रूप से परास्त करना कांग्रेस का एक बड़ा लक्ष्य था तो स्पष्ट तौर पर उसका दृष्टिकोण सफल नहीं रहा। सभी प्रमाण यही बताते हैं कि लगभग अंत अंत तक राष्ट्रीय आंदोलन में मुस्लिम भागीदारी बहुत कम रही। और मुस्लिम सांप्रदायिकता बढ़ती रही तथा अपनी मांगें बढ़ाती रही। उसकी चरम मांग 1940 में सामने आई जब मुस्लिम लीग ने घोषित किया कि भारतीय मुस्लिम अल्पसंख्यक नहीं बल्कि एक राष्ट्र हैं और इसीलिए अपने अलग राष्ट्र-राज्य के हकदार हैं। यह मांग भारत के बंटवारे की मांग थी। 1947 में यह मांग पूरी हो गई जब ब्रिटिश लोगों ने देश छोड़ने से पहले भारत का बंटवारा दो अलग राष्ट्र-राज्यों- भारत और पाकिस्तान में कर दिया।

आरम्भिक स्तर पर कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक सवाल पर कांग्रेस के दृष्टिकोण को वैसी सर्वानुमति हासिल नहीं थी जैसी साम्राज्यवाद-विरोध के मुद्दे पर हासिल थी। योजानाएं अक्सर किसी नेता द्वारा बनाई जातीं लेकिन विशाल संगठन उन्हें आधे अधूरे मन से लागू करता। उदाहरण के लिए 1930 दशक में नेहरू और गांधी द्वारा शुरू की गई कुछ योजनाओं के साथ ऐसा ही हुआ। कांग्रेसी नेतृत्व को पूरी तरह उस तीव्र गति का अहसास ही नहीं हुआ जिस तीव्र गति से सांप्रदायिकता खासकर मुस्लिम सांप्रदायिकता बढ़ रही थी। इसलिए नेतृत्व ने अक्सर वे उपाय सुझाए जो सांप्रदायिकता के पूर्ववर्ती चरण के लिए तो ठीक होते लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में नाकाफी थे। उदाहरण के लिए 1937-38 के दौरान जिन्ना के साथ पत्रव्यवहार और समझौता वार्ताओं में नेहरू उनसे पूछते रहे कि उनकी मांगें क्या हैं। एक बार कांग्रेस जान जाती कि मुस्लिम लीग की मुख्य मांगें क्या हैं तो उन्हें हल करने की कोशिश करती। यह दृष्टिकोण 1920 दशक में मौजूद सांप्रदायिक स्थिति के लिए पूरी तरह उचित थी। 1920 दशक में सांप्रदायिकता की राजनीति मूलतः कुछ मांगों की प्रस्तुति थी। ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस मान्यताप्राप्त प्रमुख राजनीतिक ताकतें थीं और विभिन्न प्रवृत्तियों वाले सांप्रदायिक नेता या तो अंग्रेज सरकार या कांग्रेस के सामने अपनी मांगें प्रस्तुत करते थे। बहरहाल 1930 दशक के आते आते मुस्लिम सांप्रदायिकता के चरित्र में महत्वपूर्ण बदलाव आए। अब मुस्लिम लीग समानता के लिए, कांग्रेस के समान बरताव के लिए लड़ रही थी तथा भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था माने जाने पर जोर दे रही थी। एक दशक के समय में मुस्लिम लीग अर्जी देने वाली संस्था से रूपांतरित होकर कांग्रेस के साथ बराबरी की हैसियत का दावा करने वाला संगठन बन चुका था। ऐसे परिदृश्य में नेहरू द्वारा जिन्ना से उनकी मांगों के बारे में सवाल करने का साफ तौर पर कोई अर्थ नहीं था और इससे जिन्ना को गुस्सा ही आया। नेहरू-जिन्ना वार्ता टूटने का मुख्य कारण दोनों पक्षों की एक दूसरे के बारे में समझदारी का बुनियादी रूप से बेमेल होना था।

जैसा पीछे बताया गया कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में नेहरू ने 1937 में घोषित किया कि सांप्रदायिक नेताओं की उपेक्षा करनी चाहिए और मुस्लिम जनता तक सीधे पहुंचना चाहिए। उनको लगा कि अगर मुस्लिम जनता कांग्रेस में शामिल हो जाती है तो सांप्रदायिक समस्या अपने आप नहीं भी तो आसानी से जरूर हल हो जाएगी। अपने आपमें यह दृष्टिकोण गंभीर था और निश्चय ही इसके सफल होने की संभावना भी पर्याप्त थी। कठिनाई यह थी कि जब कांग्रेस ने अपना मुस्लिम संपर्क अभियान शुरू किया तो मुस्लिम लीग ने भी अपना जन संपर्क अभियान शुरू कर दिया। 1939-40 तक यह स्पष्ट हो गया कि मुस्लिम लीग का अभियान बहुत अधिक सफल रहा है और बड़ी संख्या में मुस्लिम जनता मुस्लिम लीग में शामिल हुई है। 1940 दशक में मुस्लिम लीग केवल कुलीनों का ऐसा संगठन नहीं रह गया जिसकी अनदेखी की जा सके। इस नई परिस्थिति में स्पष्ट रूप से कांग्रेस को नया दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत थी। नेहरू द्वारा सुझाया गया पहले का दृष्टिकोण जिसमें

मुस्लिम लीग की उपेक्षा करनी थी तभी सफल हो सकता था जब मुस्लिम लीग छोटा सा महत्वहीन संगठन होता। लेकिन जब वह लोकप्रिय और मजबूत हो गया और ब्रिटिश सरकार की मान्यता भी उसे मिल गई तो उसकी उपेक्षा से नुकसान ही होने की उम्मीद थी।

बहरहाल समस्या यह थी कि जैसे जैसे मुस्लिम लीग अधिक लोकप्रिय हुई, वह और अधिक सांप्रदायिक होती गई। चरम सांप्रदायिकता के दौर में उसका प्रवेश हुआ। अब इसकी मुख्य मांग भारतीय मुस्लिमों के लिए अलग देश की हो गई। कांग्रेस जैसी राष्ट्रवादी संस्था के लिए इस मांग को पूरा करना मुश्किल था। इस प्रकार जिस समय कांग्रेस के लिए मुस्लिम लीग के साथ बातचीत जरूरी थी (क्योंकि यह लोकप्रिय हो गई) उसी समय कांग्रेस के लिए भारी कठिनाई भी आ पड़ी (क्योंकि लीग ने पाकिस्तान की मांग शुरू कर दी)। इस तरह मुस्लिम लीग के साथ निपटने का संतोषजनक तरीका निकालना कांग्रेस के लिए मुश्किल हो गया। मुस्लिम लीग का लोकप्रिय होना और साथ ही चरम सांप्रदायिकता की ओर उसके झुकाव के निहितार्थ कांग्रेस के दृष्टिकोण के लिए गंभीर थे। अगर मुस्लिम लीग चरम सांप्रदायिकता की ओर झुके बिना लोकप्रिय हुई होती तो उसके साथ बातचीत और निपटना अपेक्षाकृत आसान और संभव रहा होता। दूसरी ओर अगर मुस्लिम लीग बिना लोकप्रिय हुए चरम सांप्रदायिकता की ओर झुकी होती तो कांग्रेस के लिए उसकी उपेक्षा करना संभव होता। लेकिन ऐसा तो हुआ नहीं।

सांप्रदायिकता, उसकी राजनीति, संगठनों और नेतृत्व के साथ प्रभावी रूप से निपटने की बुनियादी अक्षमता के अलावे कांग्रेस के भीतर की बहुत सारी अन्य कमजोरियों की ओर भी विभिन्न विद्वानों ने इशारा किया है। मुसलमानों को बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल करने में कांग्रेस की असफलता की व्याख्या के बतौर कांग्रेसी नेतृत्व का सारतः मध्यवर्गीय चरित्र, मुस्लिम लीग को अधिक रियायत देने में अक्षमता या उससे इनकार और उसके राजनीतिक समर्थन को जीतने के लिए पर्याप्त काम न करना, कांग्रेसी नेतृत्व के भीतर दक्षिणपंथी प्रभुत्व जो मुस्लिमों तक पहुंचने की उसकी कोशिशों पर पानी फेर देता था, कांग्रेस में मुस्लिमों के शामिल होने को कठिन बनाने वाले कांग्रेस के नेतृत्व में बैठे हिंदू पुनरुत्थानवादी तत्व आदि का जिक्र किया जाता है। संक्षेप में यह कहना उचित लगता है कि सांप्रदायिकता का मुकाबला करने की सुसंगत रणनीति विकसित करने और उसे लागू करने में राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व की अक्षमता या असफलता भारत में सांप्रदायिकता के उभार की व्याख्या का महत्वपूर्ण भाग है।

33.6 जवाहरलाल नेहरू और सांप्रदायिकता

सांप्रदायिक प्रश्न के बारे में कांग्रेस के दृष्टिकोण का अध्ययन करते हुए बेहद जरूरी है कि हम इस प्रश्न के बरक्स जवाहरलाल नेहरू के विचारों और गतिविधियों पर विशेष ध्यान दें। कांग्रेस के किसी भी अन्य नेता से अधिक नेहरू ने इस प्रश्न ध्यान दिया, इसके बारे में लिखा और इस सवाल पर अक्सर कांग्रेस के दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध किया। उनके लंबे राजनीतिक जीवन में राजनीतिक परिघटना के बतौर सांप्रदायिकता की उनकी समझदारी में कई बदलाव आए।

सांप्रदायिकता पर समझ के मामले में नेहरू अग्रदूत थे। सांप्रदायिकता के बारे में सामाजिक विज्ञान के कई विचारों के मूल-सर्वसम्मत और विवादास्पद भी- नेहरू में हैं। नेहरू के विचारों के संदर्भ के बिना भारत में सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक विश्लेषण की कोशिश मुश्किल है। जहां तक सांप्रदायिकता का सवाल है उनके विचार लगातार विकसित और

परिष्कृत होते रहे। बहरहाल 1930 का दशक, खासकर 1932-37 की अवधि इस सवाल के साथ उनकी बौद्धिक जद्दोजहद के लिहाज से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी दौरान उनकी सोच में बड़ी छलांग लगी और बाद के दौर में भी वह चीज उनके चिंतन में बनी रही। मोटे तौर पर कहा जाए तो निम्नांकित विचारों को सांप्रदायिकता के बारे में नेहरू की समझदारी के प्रमुख स्तम्भ कहा जा सकता है। इन्हीं विचारों ने सांप्रदायिक समस्या के बारे में कांग्रेस द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को भी आकार दिया:

- नेहरू को अधिकाधिक समझ में आता गया कि सांप्रदायिकता केवल धर्म का, या धार्मिक भिन्नताओं का सवाल या फिर महज हिंसा का मामला भी नहीं है। उन्होंने भारत में सांप्रदायिक प्रश्न की सामाजिक और आर्थिक जड़ों को खोजना शुरू किया। उन्होंने इसे सारतः मध्यवर्गीय समस्या के रूप में देखना शुरू किया जिसकी जड़ें भारत के मध्य वर्ग की असुरक्षाओं, दुश्चिंताओं और असमान विकास में मौजूद हैं। दूसरे शब्दों में सांप्रदायिकता की समस्या को समझने के लिए उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग करना शुरू किया। नेहरू से पहले सांप्रदायिक सवाल को धार्मिक समुदायों के बीच टकराव और उन टकरावों पर आधारित राजनीति के रूप में देखा जाता था।
- इसी समझदारी का विस्तार यह था कि उन्होंने इस समस्या को 'मिथक' या छद्म जैसा कुछ समझा। इससे उनका आशय यह नहीं था कि यह आनुभविक रूप से झूठी या अनस्तित्वमान है, बल्कि उनका मतलब यह था कि सामाजिक यथार्थ का यह सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह धर्म के संरक्षण का दावा करती है लेकिन असल में यह केवल मध्य और उच्च वर्गों के संकीर्ण हितों की सेवा करती है। इस प्रकार उन्होंने सांप्रदायिकता को निहित स्वार्थों के हाथ का औजार समझना शुरू किया। उनका कहना था कि सांप्रदायिकता कुलीनों के संकीर्ण वर्ग हितों को ढकने का परदा है।
- नेहरू ने शायद पहली बार अलग अलग अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता या मुस्लिम और हिंदू सांप्रदायिकता की बात शुरू की। एक लेख में उन्होंने एक नई थीसिस दी कि जहां बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता आसानी से अपने आपको एक तरह के राष्ट्रवाद के परदे में छिपा सकती है वहीं अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता को अपने अलगाव पर बल देना पड़ता है। इसके चलते बहुसंख्यक सांप्रदायिकता थोड़ा सम्मान अर्जित कर लेती है लेकिन असल में दोनों समान रूप से जन विरोधी और खतरनाक होती हैं।
- नेहरू ने भय और असुरक्षा से पैदा हुई सांप्रदायिकता तथा संकीर्ण स्वार्थी हितों से प्रेरित सांप्रदायिकता के बीच अंतर किया। उन्होंने पहली वाली को "ईमानदार" सांप्रदायिकता और दूसरी वाली को "झूठी" सांप्रदायिकता कहा। अपने एक लेख में उन्होंने ऐतिहासिक बयान दिया: "ईमानदार सांप्रदायिकता भय है; झूठी सांप्रदायिकता राजनीतिक प्रतिक्रिया है।"
- सांप्रदायिकता को उन्होंने ऐसे लोगों के हाथ का हथियार माना जो प्रगति और परिवर्तन के विरोधी हैं। ऐसे तत्वों को ब्रिटिश सरकार भी समर्थन देती थी। साम्राज्यवाद-विरोधी भारतीय राष्ट्रवाद को बदनाम करने की नीति का ही यह अंग नहीं था। भारत की आबादी के सबसे अनुदार तबकों का साथ देने की उनकी प्रवृत्ति के लिहाज से भी ऐसा होता था। सांप्रदायिकता को उन्होंने रूढ़िवाद और मध्ययुगीनता के समान माना और कहा कि प्रगति तथा आधुनिक नजरिए से इसका बुनियादी विरोध होता है।

1940 दशक के बाद भारत में सांप्रदायिकता की जो आम समझ विकसित हुई उसमें ये सभी विंदु महत्वपूर्ण घटक थे। बहरहाल पीछे लौटकर देखने से ऐसा लगता है कि नेहरू जिस तरह से सांप्रदायिकता को देखते थे उसकी दो बड़ी सीमाएं थीं:

- 1) जब सांप्रदायिकता, खासकर मुस्लिम सांप्रदायिकता ने खासकर 1937 के बाद मध्यवर्गीय घरे को तोड़ना शुरू किया और जन समर्थन पा लिया तो नेहरू ने इस बदलाव का स्वागत किया। उन्हें यकीन सा हो गया था कि इस दौर में सांप्रदायिकता प्रतिक्रियावादी रहते हुए उसी समय जन शक्ति नहीं बन सकती। उन्हें उम्मीद थी कि लोकप्रिय दबाव के चलते मुस्लिम लीग को अपनी सांप्रदायिकता को नरम और मंद करना पड़ेगा, कि लोकप्रिय सांप्रदायिकता अंतर्विरोधी धारणा है; या तो कोई लोकप्रिय हो सकता है या फिर सांप्रदायिक हो सकता है लेकिन दोनों नहीं हो सकता। नेहरू को आशा थी कि जनता का प्रवेश मुस्लिम लीग के नकारात्मक प्रतिक्रियावादी चरित्र को साफ कर देगा। नेहरू यह नहीं देख सके कि इस बदलाव से खुद सांप्रदायिकता ही शक्तिशाली जन शक्ति में रूपांतरित हो जाएगी। जब एक बार ऐसा हो जाएगा तो इसका प्रभावी विरोध करना लगभग असंभव हो जाएगा। इसलिए जब ऐसा हुआ तो जन समर्थन वाली सांप्रदायिकता का मुकाबला करने में राष्ट्रवादी ताकतें असहाय सिद्ध हुईं।
- 2) सांप्रदायिकता की आर्थिक जड़ों की नेहरू की तलाश का अंतिम परिणाम सांप्रदायिकता के बारे में कुछ कुछ आर्थिक निर्धारणवादी नजरिए के निर्माण में निकला। ऐसा इसलिए भी हुआ कि उन्होंने अपने समय की महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर मार्क्सवाद का यांत्रिक इस्तेमाल किया। उन्होंने सांप्रदायिकता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा प्रोत्साहित खास तरह के राजनीतिक अर्थतंत्र की उपज समझा। इसके बाद उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद के खात्मे और आर्थिक विकास के चलते भारतीय समाज सांप्रदायिकता से छुटकारा पा सकेगा। शायद उन्होंने सांप्रदायिकता के विरुद्ध मजबूत वैचारिक अभियान की जरूरत नहीं समझी। उनका विश्वास था कि जनता में सांप्रदायिक चेतना मौजूदा भौतिक स्थितियों के रहते हुए जड़ जमाए है। इसलिए भौतिक स्थितियों में रूपांतरण से इस चेतना को बदलने में सफलता मिलेगी। वे नहीं देख सके कि कोई विचारधारा जब जनता के दिलो दिमाग में जड़ जमा लेती है तो उसका अपना स्वतंत्र जीवन रूप ले लेता है।

निष्कर्ष के बतौर हम कह सकते हैं कि सांप्रदायिकता पर जो भी समृद्ध इतिहासलेखन विकसित हुआ उसमें महत्वपूर्ण योगदान का श्रेय नेहरू को देना होगा। कई विचारों को नेहरू ने व्यक्त किया और बाद में अन्य समाज वैज्ञानिकों ने उन्हें विकसित किया। सांप्रदायिकता की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता में भेद, सांप्रदायिकता का वर्ग चरित्र, सांप्रदायिक चेतना का 'छद्म' होना, सांप्रदायिकता को फासीवाद का भारतीय रूप समझना कुछेक ऐसे विचार हैं जिनकी शुरुआत नेहरू से हुई और इतिहासकारों ने उन्हें आगे विकसित किया।

33.7 सारांश

इस इकाई में निम्नांकित बातें कही गई हैं:

- □ उन्नीसवीं सदी में भारतीय इतिहास में नए तरह की राज्य प्रणाली और नए किस्म की अर्थव्यवस्था का उदय हुआ। इसके कारण भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना में रूपांतरण की शुरुआत हुई। इस रूपांतरण ने भारत की सामुदायिक सांख्यिकी को बेहद गहराई से बदल दिया। उन्नीसवीं सदी का अंत आते आते भारतीय समाज में

भारत—व्यापी आंतरिक तौर पर मानकीकृत, बाहरी तौर पर विभिन्नीकृत हिंदू और मुस्लिम धार्मिक समुदायों का उदय हुआ। यह रूपांतरित सामुदायिक ढांचा सांप्रदायिकता के लिए अत्यंत अनुकूल था। सांप्रदायिकता की उत्प्रेरणा ने हिंदुओं और मुसलमानों के इन भारत—व्यापी धार्मिक समुदायों को राजनीतिक निर्वाचकों में बदल दिया।

- राष्ट्रवादी संघर्ष साम्राज्यवाद—विरोध और राष्ट्रीय एकता के जुड़वां विचारों पर आधारित था। राष्ट्रीय एकता का आदर्श सांप्रदायिक राजनीति के विकास से गंभीरतापूर्वक क्षतिग्रस्त हो सकता था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के कुछ बदलावों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक विभाजन पैदा कर दिया। अगर भारतीय राष्ट्रवाद के विचार को राजनीतिक रूप से बचे रहना था तो इसके लिए सांप्रदायिक राजनीति से चेष्टा करके प्रभावी रूप से निपटना राष्ट्रवादी नेतृत्व के लिए अपरिहार्य हो गया।
- राष्ट्रवादी संघर्ष के शुरुआती दशकों के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व ने इस प्रश्न को समन्वित और केंद्रीकृत राजनीतिक ढांचे में नहीं ग्रहण किया। इसकी बजाए नेतृत्व ने अलग अलग मौकों पर तमाम तरह के कार्यनीतिक विकल्पों को आजमाने की कोशिश की। कुल मिलाकर हालांकि कांग्रेस हिंदू महासभा को रोकने में तो कामयाब रही लेकिन यह अपने घेरे में बड़ी संख्या में मुसलमानों को लाने में नाकामयाब रही। 1937 में सांप्रदायिक राजनीति में एक नया आयाम जुड़ गया। पृथक निर्वाचक मंडल के तहत आयोजित पहले आम चुनाव के नतीजों से पता चला कि भारतीय मुस्लिम मतदाता अब तक न तो राष्ट्रवादी ताकतों द्वारा और न ही सांप्रदायिक ताकतों द्वारा सफलतापूर्वक गोलबंद किए जा सकते हैं। इसे नेहरू ने कांग्रेस के मंच पर मुसलमानों को गोलबंद करने की इच्छा से मुस्लिम जन संपर्क अभियान शुरू करने के मौके के रूप में देखा। लेकिन कांग्रेस का अभियान 1939 के बाद बंद हो गया।
- 1937 के बाद के दौर में मुस्लिम लीग ने धीरे धीरे एक जनाधार प्राप्त किया। इसने अति सांप्रदायिकता की दिशा में अपने को रूपांतरित भी किया। 1940 में इसने भारतीय मुसलमानों के पृथक राष्ट्र—राज्य के बतौर पाकिस्तान की मांग प्रस्तुत की। मुस्लिम लीग के साथ साथ लोकप्रिय और सांप्रदायिक होने के कारण कांग्रेसी नेतृत्व के लिए सांप्रदायिक समस्या से प्रभावी रूप से निपटना बेहद मुश्किल हो गया।

इसके आगे के विकास की परिणति 1947 में इस उप—महाद्वीप के विभाजन में हुई। 1947 का साल भारतीय राष्ट्रवाद के लिए महान विजय और विराट त्रासदी का साल था। भारतीय राष्ट्रवाद की मौजूदगी का औचित्य था भारत की आजादी और वह तो हालांकि हासिल हुई लेकिन उसके साथ ही विभाजन भी मिला। भारतीय राष्ट्रवादी विचारधारा की विराट असफलताओं में से एक स्वाधीनता के मौके पर देश की एकता को बनाए रखने में उसकी अक्षमता है।

33.8 अभ्यास

- 1) 1920 से पहले की सांप्रदायिकता की प्रकृति स्पष्ट करें।
- 2) 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट और खिलाफत आंदोलन के आने से सांप्रदायिक राजनीति में क्या बदलाव आए?
- 3) मुस्लिम लीग और उसकी सांप्रदायिक राजनीति का मुकाबला करने में कांग्रेस की असफलता के लिए जिम्मेदार कारणों का विश्लेषण कीजिए।
- 4) सांप्रदायिकता के बारे में नेहरू के विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 34 भारत के संविधान का निर्माण*

संरचना

- 34.1 प्रस्तावना
- 34.2 भारत के संविधान का विकास 1858– 1935
- 34.3 संविधान सभा का निर्माण
 - 34.3.1 क्रिप्स मिशन
 - 34.3.2 कैबिनेट मिशन
 - 34.3.3 संविधान सभा का चुनाव
- 34.4 संविधान सभा में प्रतिनिधित्व की प्रकृति
- 34.5 संविधान सभा की भूमिका 1946– 1949
- 34.6 भारत के संविधान का दर्शन
- 34.7 संविधान की प्रमुख विशेषताएं
 - 34.7.1 बुनियादी अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत
 - 34.7.2 सार्वभौमिक बालिग मताधिकार और पृथक निर्वाचक मंडल का त्याग
- 34.8 सारांश
- 34.9 अभ्यास

34.1 प्रस्तावना

भारत का संविधान 26 नवंबर 1949 को अपनाया गया जिसका मतलब यह है कि संविधान सभा ने इसी दिन उसे अंतिम रूप दिया। लेकिन इसे अपनाने के दो महीने बाद 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया और इसे ही इसके "लागू" होने की तिथि के रूप में जाना जाता है। बहरहाल इसके कुछ प्रावधान (नागरिकता, चुनाव, अंतरिम संसद से जुड़े हुए अस्थायी और संक्रमणकालीन प्रावधान) 26 नवंबर 1949 से ही लागू हो गए। अपनाए जाने के दो महीने बाद लागू होने का कारण 26 जनवरी को स्वाधीनता प्राप्ति की मूल तिथि के रूप में महत्व देना था। इसका उल्लेख महत्वपूर्ण है कि भारत का संविधान बहस मुबाहिसे की लंबी प्रक्रिया का परिणाम था। इस इकाई में भारतीय संविधान के निर्माण से जुड़े हुए कुछ मुद्दों पर विचार किया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप सीखेंगे:

- संविधान सभा के निर्माण से पहले संविधान बनने के विभिन्न चरणों के बारे में;
- संविधान सभा में प्रतिनिधित्व की प्रकृति के बारे में;
- भारतीय संविधान के दर्शन के बारे में; और
- भारतीय संविधान की कुछ विशेषताओं पर संविधान सभा के भीतर की बहसों के बारे में।

34.2 भारत के संविधान का विकास 1858–1935

भारत का संविधान जो लोग देश के नागरिक नहीं हैं उनके समेत सभी मनुष्यों के बुनियादी लोकतांत्रिक अधिकारों को मुहैया कराने वाले प्रावधानों का साकार रूप है। इसमें इन

*इकाई लेखक: प्रो. जगपाल सिंह

अधिकारों की पूर्ति के लिए कानून निर्माण, उसका अनुपालन और विवाद की स्थिति में न्यायिक संस्थाओं की उपलब्धता का प्रावधान भी है। इसमें सामाजिक रूपांतरण और लोकतंत्र को गहरा करने की दृष्टि भी प्रस्तुत की गई है। संविधान सभा ने जब भारत का संविधान बनाया उसके बहुत पहले से लोकतांत्रिक संस्थाओं और अधिकारों के विकास की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। बहरहाल इस बात पर जोर देना होगा कि औपनिवेशिक काल में जिन लोकतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों की विशेषताएं इसमें शामिल थीं उनका मकसद औपनिवेशिक हितों की सेवा करना था जो संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान के प्रावधानों के उद्देश्य के विपरीत था।

हालांकि भारत का संविधान देश की संविधान सभा की बैठकों/बहसों (9 दिसंबर 1947 से 26 नवंबर 1949 तक) का परिणाम था लेकिन इसकी कुछ विशेषताओं का विकास लंबे अरसे में यानी 1858 से 1935 तक पारित विभिन्न ऐक्टों के जरिए हुआ। औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा प्रशासन की संस्थाओं के निर्माण का कदम निश्चय ही अंग्रेजों के विरुद्ध प्रतिरोध के जवाब के बतौर उठाया गया था। अगर ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से शासन छीन लेना 1857 के विद्रोह की प्रतिक्रिया थी तो बाद के ऐक्ट अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रवादी आंदोलन का उत्तर थे। ऐसा करने के पीछे प्रमुख उद्देश्य औपनिवेशिक शासन को जारी रखना और बदलती चुनौतियों के अनुरूप उसे ढालना था। ईस्ट इंडिया कंपनी से शासन ज्यों ही ब्रिटिश ताज को हस्तांतरित हुआ भारत के मामलों में ब्रिटेन की संसद की भागीदारी होने लगी। इसके लिए उसने तमाम कानून बनाए जो हमारे संविधान की नींव बने या उसकी पृष्ठभूमि तैयार की। इस दौरान ब्रिटेन की संसद ने ऐसे ऐक्ट बनाए जिन्होंने सरकार के अंग— न्यायपालिका और कार्यपालिका— की प्रकृति को परिभाषित किया; हालांकि सीमित प्रकृति का ही लेकिन प्रातिनिधिक लोकतंत्र, विकेंद्रीकरण, अल्पसंख्यक अधिकार/सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और प्रांतीय स्वायत्तता की धारणा लागू की। इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि स्वतंत्र भारत में निर्मित संविधान की ये ही विशेषताएं बनीं। बहरहाल जैसा पहले कहा जा चुका है इन प्रावधानों की प्रकृति स्वतंत्र भारत की जनता द्वारा अपनाए गए संविधान से भिन्न थी। ये प्रावधान स्वाधीनता से पहले के दौर में विभिन्न ऐक्टों के जरिए लागू किए गए— ये थे 1857, 1919 और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट 1861, 1892 के कौंसिल आफ इंडिया ऐक्ट; 1909 के मोर्ले-मिटो सुधार। इन सारे ऐक्टों को एक समेकित ऐक्ट— 1935 का गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में बदला गया। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की अलग अलग शाखाओं को अब तक विभिन्न ऐक्टों के बिखरे हुए प्रावधानों के जरिए चलाया जाता था, उन सबको एक ऐक्ट के मातहत लाना इस ऐक्ट का मकसद था। आप जानते हैं कि 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के प्रावधानों का कांग्रेस ने विरोध किया था और असहयोग आंदोलन शुरू किया था। और इसके जवाब में ब्रिटिश सरकार ने 1919 ऐक्ट की व्यावहारिकता की समीक्षा के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति की थी। हालांकि कांग्रेस ने साइमन कमीशन का बहिष्कार किया था फिर भी ढेर सारे लोगों ने साइमन कमीशन को ज्ञापन दिए थे। 1930 में साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट जमा की। लंदन में गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार साइमन कमीशन की उस रिपोर्ट को बहस के लिए ले आई। बहरहाल ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 4 अगस्त 1932 को "कम्यूनल अवार्ड" जारी किया जिसमें कहा गया कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर बहस से पहले समाधान के लिए हिंदुओं और मुस्लिमों को कुछ सहमति बनानी पड़ेगी। इसमें माना गया था कि 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के लागू होने के बाद हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच की खाई चौड़ी हो गई है। गोलमेज सम्मेलन की बहसों के बाद ब्रिटिश सरकार ने 1935 का गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट पारित किया जिसमें मुस्लिमों, सिखों, यूरोपियों, भारतीय ईसाइयों और एंग्लो-इंडियनों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व मुहैया

कराया गया था। 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट की रोशनी में 1937 में प्रांतीय असेम्बलियों के चुनाव हुए और कई प्रांतों में कांग्रेस ने सरकारें बनाईं। बहरहाल कांग्रेसी सरकारें अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकीं और अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले ही उन्हें इस्तीफा देना पड़ा।

ये घटनाएं भारतीयों द्वारा ही संविधान बनाने की मांग की पृष्ठभूमि में घट रही थीं। 1928 में स्थापित अखिल भारतीय पार्टियों (मद्रास में जस्टिस पार्टी और पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी को छोड़कर) के सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट के जरिए भारत का संविधान तैयार करने की पहली कोशिश की गई। नेहरू रिपोर्ट ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार तथा प्रांतों और केंद्र दोनों में जिम्मेदार सरकार की मांग की। बहरहाल इसने पूर्ण स्वाधीनता की जगह डोमिनियन स्टेटस का समर्थन किया जिससे कांग्रेस की युवा पीढ़ी को निराशा हुई। 1934 में कांग्रेस ने आधिकारिक रूप से बाहरी हस्तक्षेप से रहित भारतीय जनता के संविधान की मांग की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को इसकी जरूरत स्टैच्यूटरी कमीशन और गोलमेज सम्मेलन की असफलता से महसूस हुई। हालांकि 1922 में असहयोग आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय नेताओं द्वारा स्वराज की मांग की गई थी लेकिन 1938 में जाकर जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस ने स्वतंत्र भारत के मामलों के प्रशासन के लिए संविधान बनाने हेतु संविधान सभा की मांग की। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने 1939 में इस मांग को दुहराया।

34.3 संविधान सभा का निर्माण

34.3.1 क्रिप्स मिशन

शुरु में औपनिवेशिक शासकों ने संविधान निर्माण की मांग का प्रतिरोध किया। लेकिन परिस्थितियों में बदलाव— द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ और ब्रिटेन में नई (लेबर पार्टी के नेतृत्व में) गठबंधन सरकार का निर्माण— ने ब्रिटिश सरकार को बाध्य कर दिया कि वह भारतीयों के लिए संविधान से जुड़ी हुई समस्या को हल करने की जरूरत माने। 1942 में ब्रिटिश सरकार ने अपने मंत्रिमंडल के सदस्य— सर स्टैफर्ड क्रिप्स— को (भारतीयों के लिए एक संविधान के सिलसिले में) ऐसे प्रस्तावों की मसौदा घोषणा के साथ भेजा जिन्हें द्वितीय विश्व युद्ध के खात्मे पर लागू किया जाना था बशर्ते मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों उन्हें स्वीकार करने पर सहमत हों। क्रिप्स मिशन के मसौदा प्रस्तावों में निम्नांकित संस्तुतियां थीं: डोमिनियन स्टेटस मुहैया कराना यानी ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ नेशंस में बराबर की भागीदारीय भारत के सभी प्रांत और रियासतें मिलकर ब्रिटिश संविधान द्वारा एकल इंडिया यूनियन बनेंगे; भारत का संविधान भारतीय जनता की चुनी हुई संविधान सभा बनाएगी लेकिन अगर कोई प्रांत (या भारतीय रियासत) संविधान को स्वीकार करने को तैयार न हो तो वह उस समय मौजूद संवैधानिक स्थिति को बरकरार रखने को स्वतंत्र होगा और ऐसे प्रांत पृथक संवैधानिक व्यवस्था में प्रवेश करने के लिए आजाद होंगे।

क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार नहीं किया। मुस्लिम लीग ने मांग की कि भारत को सांप्रदायिक आधार पर बांटा जाए और कुछ प्रांतों को मिलाकर पाकिस्तान नामक स्वतंत्र राष्ट्र बनना चाहिए तथा एक पाकिस्तान के लिए और दूसरी भारत के लिए, दो संविधान सभाओं का गठन किया जाए।

34.3.2 कैबिनेट मिशन

भारत की ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच के अंतर को पाटने की कई कोशिशें कीं। लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। ब्रिटिश सरकार ने मंत्रिमंडल के सदस्यों का

एक दूसरा प्रतिनिधिमंडल भेजा जिसे कैबिनेट डेलीगेशन कहा गया और इसे ही कैबिनेट मिशन योजना के रूप में भी जाना गया। इसमें तीन सदस्य थे— लार्ड पेथिक—लारेन्स, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और मिस्टर ए वी अलेक्जेंडर। कैबिनेट डेलीगेशन भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता कराने में असफल रहा। बहरहाल इसने अपना प्रस्ताव तैयार किया जो 16 मई 1946 को एक साथ इंग्लैंड और भारत में घोषित किया गया। कैबिनेट डेलीगेशन ने निम्नांकित संस्तुतियां कीं: ब्रिटिश भारत और रियासतों को मिलाकर यूनियन आफ इंडिया बनेगा जिसका न्यायाधिकार विदेशी मामलों, रक्षा और संचार पर होगा। समस्त अवशिष्ट शक्तियां प्रांतों और रियासतों को हासिल होंगी; यूनियन यानी संघ में कार्यपालिका और विधायिका होगी जिसमें प्रांतों और रियासतों के प्रतिनिधि होंगे लेकिन विधायिका में किसी बड़े सांप्रदायिक निर्णय के सिलसिले में दोनों प्रमुख संप्रदायों के प्रतिनिधियों की बहुसंख्या को विधायिका में उपस्थित रहना और सभी उपस्थित सदस्यों की बहुसंख्या के साथ उनका मत देना जरूरी होगा तथा मतदान आवश्यक होगा और; प्रांतों को आजादी होगी कि वे कार्यपालिका और विधायिका के साथ गुट बना सकें तथा प्रत्येक गुट यह तय करने के लिए आजाद होगा कि गुट के भीतर किन विषयों को उठाया जाए।

34.3.3 संविधान सभा का चुनाव

इसी बीच कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुरूप संविधान सभा के लिए चुनाव संपन्न हुए जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के सदस्य जीतकर वापस आए। संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधायी सभाओं ने किया था। बहरहाल कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच कैबिनेट मिशन के “ग्रुप उपबंधों” की व्याख्या को लेकर अंतर पैदा हो गए। इस मौके पर ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप किया और लंदन में नेताओं को समझाया कि मुस्लिम लीग का दावा जायज है। 6 दिसंबर 1946 को ब्रिटिश सरकार ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें पहली बार दो संविधान सभाओं और दो राष्ट्रों की संभावना मानी गई। नतीजा यह निकला कि जब 9 दिसंबर 1946 को पहली बार संविधान सभा की बैठक हुई तो मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया और मुस्लिम लीग की भागीदारी के बिना यह अपना काम करती रही।

34.4 संविधान सभा में प्रतिनिधित्व की प्रकृति

अक्सर यह बात कही जाती है कि भारत की संविधान सभा भारत की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी क्योंकि इसके प्रतिनिधियों का चुनाव सार्वभौमिक बालिग मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था। इसकी जगह उनका चुनाव सीमित बालिग मताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष तरीके से हुआ था। यह मताधिकार समाज के कुलीन तबकों— शिक्षितों और टैक्स चुकाने वाले— तक सीमित था। आस्टिन के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का सीमित मताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष चुनाव के कारण कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित थे— संविधान निर्माण की प्रक्रिया में तकलीफदेह और धीमी प्रगति से बचाव। कैबिनेट मिशन के अनुसार संविधान सभा का अप्रत्यक्ष चुनाव प्रांतीय विधायिका के चुने हुए सदस्यों द्वारा किया गया। कैबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव से कांग्रेस सहमत हो गई और उसने संविधान सभा का चुनाव कराने के लिए बालिग मताधिकार के दावे को छोड़ दिया। सीमित बालिग मताधिकार के आधार पर चुने होने के बावजूद संविधान सभा में भारत के विभिन्न मतों और धार्मिक समुदायों का प्रतिनिधित्व था। आस्टिन का कहना है कि हालांकि संविधान सभा में कांग्रेस का बहुमत था लेकिन यह एक “अलिखित और असंदिग्ध विश्वास” था कि कांग्रेस सामाजिक और वैचारिक विविधता का प्रतिनिधित्व करेगी। इसकी “सचेत नीति” थी कि संविधान सभा में विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों और

विचारों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। संविधान सभा में अलग अलग वैचारिक झुकावों वाले सदस्य थे जो तीन धार्मिक समुदायों— सिख, मुस्लिम और सामान्य (हिंदू तथा अन्य समुदाय जैसे आंग्ल-भारतीय, पारसी आदि) के थे। के शांताराम के शब्दों में “शायद ही कोई वैचारिकी रही होगी जिसका प्रतिनिधित्व संविधान सभा में न हो” (देखें, आस्टिन, 2012, पृष्ठ 13, टिप्पणी 48)। संविधान सभा के सदस्यों की बहुसंख्या कांग्रेसी थी। इसमें ए के अय्यर और एन जी आयंगर जैसे गैर-कांग्रेसी सदस्य भी थे जिन्हें “विशेषज्ञ” के रूप में कांग्रेस ले आई थी; डाक्टर अंबेडकर और जान मथाइ थे जो मंत्रिमंडल में भी थे; एस पी मुखर्जी हिंदू महासभा के प्रतिनिधि थे। संविधान सभा में देसी रियासतों के भी प्रतिनिधि थे। यह बताना जरूरी है कि शुरू में डाक्टर अंबेडकर संविधान सभा में शेड्यूल कास्ट फेडरेशन के सदस्य के रूप में बंगाल से चुने गए थे। लेकिन बंगाल के बंटवारे के चलते उनकी सीट जाती रही और कांग्रेस के आला कमान के अनुरोध पर बांबे कांग्रेस द्वारा (गैर-कांग्रेसी प्रत्याशी के बतौर) पुनर्निर्वाचित हुए। संविधान सभा ने किसी की भी सामाजिक या सांस्कृतिक दिशा का ध्यान रखे बिना प्रत्येक व्यक्ति के सरोकारों को समझना चाहा। संविधान में कोई भी प्रावधान शामिल करने से पहले विस्तार से उस पर चर्चा होती थी। इस तरह संविधान सभा के सदस्य सीमित मताधिकार से निर्वाचित होने की सीमाओं पर विजय पा सके। जैसा कि हम इस इकाई में बता रहे हैं संविधान सभा ने लोकतंत्र के सार्वभौमिक मूल्यों को समाहित करना चाहा। संविधान सभा ने दुनिया के विभिन्न संविधानों से कई प्रावधानों को अपनाया और उन्हें भारत की जरूरत के मुताबिक ढाल लिया। आस्टिन का कहना है कि असल में संविधान में अन्य देशों से लिए गए प्रावधानों सहित विभिन्न प्रावधानों को शामिल करते हुए संविधान सभा ने अपने सदस्यों के बीच मतभेद के समाधान के लिए “दो पूरी तरह से भारतीय धारणाओं” यानी सर्वसम्मति और समायोजन का रास्ता अपनाया। जहां कहीं संविधान में सिद्धांतों को शामिल करने के मामले में समायोजन की धारणा का इस्तेमाल किया गया वहां भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में सर्वसम्मति का रास्ता अपनाया गया।

संविधान सभा की कार्यवाही में उसके अधिकांश सदस्यों ने भाग लिया। लेकिन बीस लोग थे जिन्होंने सभा में सबसे प्रभावकारी भूमिका निभाई। उनमें थे प्रसाद, असद, पटेल, नेहरू, पंत, सीतारामैया, अय्यर, आयंगर, अंबेडकर और सत्यनारायण सिन्हा। हालांकि संविधान सभा ही वह मंच था जहां बहसें होती थीं फिर भी तीन संस्थाओं— संविधान सभा, कांग्रेस पार्टी और अंतरिम सरकार— के संयोजन से बहसें हुईं। संविधान सभा के कुछ सदस्य साथ ही अन्य संस्थाओं के भी सदस्य थे। आस्टिन का कहना है कि संविधान सभा में नेहरू, पटेल, प्रसाद और असद इन चार लोगों को असंदिग्ध इज्जत और सम्मान हासिल था। संविधान सभा की कार्यवाही पर इनका दबदबा था। इनमें से कुछ लोग एक साथ सरकार, कांग्रेस पार्टी और संविधान सभा में थे। संविधान सभा का अध्यक्ष बनने से पहले प्रसाद कांग्रेस के अध्यक्ष थे। नेहरू और पटेल संविधान सभा के साथ साथ प्रधानमंत्री और उप प्रधानमंत्री भी थे। वे लोग संविधान सभा की समितियों के अंदरूनी दायरों में थे। संविधान का मसौदा लिखने वाली समिति ने परिश्रम के साथ संविधान सभा के फैसलों को मसौदे में शामिल किया। मसौदा समिति के अध्यक्ष डाक्टर बी आर अंबेडकर ने संविधान के लिखने में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। अंबेडकर की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करते हुए मसौदा समिति के एक सदस्य टी टी कृष्णमचारी ने एक भाषण में कहा:

“शायद यह सदन अवगत होगा कि आप द्वारा नामित सात सदस्यों में से एक ने सदन से इस्तीफा दे दिया था और उनकी जगह कोई और आए। एक का देहान्त हो गया और उनकी जगह खाली रही। एक सुदूर अमेरिका में थे और उनकी जगह भरी नहीं गई तथा

एक अन्य सदस्य राजकीय कामों में व्यस्त रहे और कोई योगदान नहीं कर सके। एक या दो लोग दिल्ली से काफी दूर थे और शायद स्वास्थ्य ने उन्हें भागीदारी का मौका नहीं दिया। इसलिए आखिरकार हुआ यह कि इस संविधान को लिखने का बोझ डाक्टर अंबेडकर पर पड़ा और मुझे कोई शक नहीं कि जिस प्रशंसनीय तरीके से उन्होंने इस काम को निभाया उसके लिए हम उनके आभारी हैं।”

34.5 संविधान सभा की भूमिका 1946–1949

संविधान सभा का उद्घाटन सत्र 9 दिसंबर 1946 को संपन्न हुआ। उम्मीद थी कि इसमें सभी 296 सदस्य भाग लेंगे लेकिन केवल 207 सदस्य ही इसमें रहे क्योंकि मुस्लिम लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार के चलते मुस्लिम लीग के सदस्य इसमें शामिल नहीं हुए। इस बैठक में जे बी कृपलानी ने डाक्टर सच्चिदानंद से अनुरोध किया कि वे सदन के अस्थायी अध्यक्ष के रूप में अध्यक्षता करें। 10 दिसंबर 1946 को सदस्यों ने एक स्थायी अध्यक्ष के चुनाव के लिए प्रस्ताव पारित किया और 11 दिसंबर 1946 को डाक्टर राजेंद्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसंबर 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने लक्ष्य और उद्देश्य के सिलसिले में प्रस्ताव पेश किया।

सुचारु संचालन के लिए संविधान सभा ने अपना काम विभिन्न समितियों में बांटा। कुछेक महत्वपूर्ण समितियां थीं: (क) संघीय शक्ति समिति— इसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे और इसमें नौ सदस्य थे; (ख) बुनियादी अधिकारों और अल्पसंख्यक समिति— इसके 54 सदस्य थे और सरदार बल्लभभाई पटेल इसके अध्यक्ष थे; (ग) संचालन समिति और इसके तीन सदस्य जिनमें के एम मुंशी (अध्यक्ष), गोपालस्वामी आयंगर तथा भगवान दास थे; (घ) प्रांतीय संविधान सभा— इसमें 25 सदस्य थे और अध्यक्ष सरदार पटेल थे; (ङ) संघीय संविधान समिति— इसमें अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू सहित 15 सदस्य थे।

इन समितियों की रपटों पर विचार करने के बाद सभा ने 29 अगस्त 1947 को डाक्टर बी आर अंबेडकर की अध्यक्षता में एक ड्राफ्टिंग कमेटी की नियुक्ति की। संविधान सभा के सलाहकार सर बी एन राउ ने ड्राफ्ट यानी मसौदा तैयार किया। मसौदे की जांच के लिए सात सदस्यों की एक समिति गठित की गई। डाक्टर अंबेडकर ड्राफ्टिंग समिति के अध्यक्ष होने के अतिरिक्त कानून मंत्री भी थे। उन्होंने सभा में मसौदे को अंतिम रूप दिया। डाक्टर अंबेडकर ने “ड्राफ्ट कंस्टीच्यूशन आफ इंडिया” पेश किया जो समितियों द्वारा दिए गए प्रस्तावों का विकल्प था; उनके अलावा इसमें अतिरिक्त प्रस्ताव भी थे। फरवरी 1948 में “ड्राफ्ट कंस्टीच्यूशन” प्रकाशित हुआ। संविधान सभा ने अपने कई अधिवेशनों में इस पर अनुच्छेद दर अनुच्छेद विचार किया (इसे दूसरा पाठ कहा जाता है)। यह काम 17 अक्टूबर 1949 को पूरा हुआ। 14 नवंबर को संविधान सभा की बैठक फिर से हुई ताकि इस मसौदे पर और भी विचार किया जाए या इसका तीसरा पाठ संपन्न हो। 26 नवंबर 1949 को संविधान सभा के अध्यक्ष का हस्ताक्षर मिलने के बाद इसे अंतिम रूप दिया गया। लेकिन 26 जनवरी 1950 को संविधान के लागू होने की तारीख माना गया।

34.6 भारत के संविधान का दर्शन

नीचे दी गई संविधान की उद्देशिका से स्पष्ट है कि भारत के संविधान का दर्शन सामाजिक जनवाद के कुछ तत्वों के साथ उदार लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों पर आधारित है। यह व्यक्तियों के अधिकारों— न्याय, स्वतंत्रता, समानता, बंधुता तथा सामाजिक और धार्मिक समुदायों के सांस्कृतिक और धार्मिक अधिकारों की रक्षा करना चाहता है। संविधान

सभा में उद्देश्य प्रस्ताव पर गंभीर बहस के बाद **संविधान की उद्देशिका अंगीकार की गई। वस्तुतः संविधान सभा की बहसों की शुरुआत उद्देश्य प्रस्ताव पर बहसों से हुई। आगे हम उद्देश्य प्रस्ताव और उद्देशिका पर विचार करेंगे।**

उद्देश्य प्रस्ताव और संविधान की उद्देशिका

जैसा पहले ही बताया गया है संविधान सभा की बैठक के चौथे दिन 13 दिसंबर 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा के लक्ष्य और उद्देश्य के संबंध में उद्देश्य प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव को उद्देश्य प्रस्ताव कहा जाता है। प्रस्ताव में लक्ष्य और उद्देश्य के बतौर आठ बिंदु या अनुच्छेद दिए गए हैं। इन लक्ष्यों और उद्देश्यों में शामिल थे:

- 1) भारत को एक स्वतंत्र, संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न गणराज्य घोषित करना और इसके आगामी प्रशासन के लिए एक संविधान बनाना;
- 2) भारत ऐसे भूभागों का संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत, देशी रियासतों का इलाका और वे भूभाग जो स्वतंत्र, संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न भारत के अंग होना चाहते हैं, शामिल होंगे;
- 3) संघ के भूभाग स्वायत्त इकाइयों की स्थिति में होंगे और बने रहेंगे, उन्हें अवशिष्ट अधिकार हासिल होंगे, वे सरकार और प्रशासन की उन सभी शक्तियों का उपयोग कर सकेंगे जो शक्तियां और कार्य संघ में निहित या उसे प्रदत्त नहीं हैं;
- 4) संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न स्वतंत्र भारत और उसके घटक हिस्सों और अंगों की समस्त शक्तियां और प्राधिकार जनता से निरुसृत होते हैं;
- 5) इसे भारत के सभी लोगों के लिए न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हैसियत की, अवसर के मामले में और कानून के समक्ष समानता की; चिंतन, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय, संगठन और कार्यवाही की आजादी, बशर्ते कानून और सार्वजनिक नैतिकता का उल्लंघन न हो, की गारंटी करना होगा;
- 6) इसे अल्पसंख्यकों, पिछड़े और आदिवासी इलाकों, तथा दलित और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त सुरक्षा उपलब्ध करानी होगी;
- 7) इसे सभ्य देशों के कानून और न्याय के अनुसार गणतंत्र की भूभागीय अखंडता को बनाए रखना होगा तथा भूमि, समुद्र और आकाश पर संप्रभु अधिकारों की रक्षा करनी होगी;
- 8) दुनिया में इस प्राचीन देश को यथोचित और सम्मानजनक स्थान दिलाना तथा विश्व शांति और मानव कल्याण को बढ़ावा देने में संपूर्ण और स्वैच्छिक योगदान सुनिश्चित करना होगा।

उद्देश्य प्रस्ताव पर बहस का डाक्टर अंबेडकर के लिए विशेष महत्व था। इस प्रस्ताव पर उन्होंने "ऐतिहासिक भाषण" दिया। जब 16 दिसंबर 1946 को उद्देश्य प्रस्ताव पर बहस के लिए सदन की बैठक हुई तो डाक्टर एम आर जयकर ने उद्देश्य प्रस्ताव में एक संशोधन पेश करते हुए प्रस्ताव पर बहस को स्थगित करने की मांग की क्योंकि वे चाहते थे कि मुस्लिम लीग और देशी रजवाड़े भी बहस में भाग लें। इससे "सदन में तनाव का वातावरण" पैदा हो गया। ऐसी स्थिति में 17 दिसंबर 1946 को भाषण देने के लिए "अप्रत्याशित रूप से" डाक्टर राजेंद्र प्रसाद को बुलाया गया। उनके भाषण के प्रभाव स्वरूप प्रस्ताव पर बहस को अगले अधिवेशन तक के लिए स्थगित कर दिया गया।

हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय;

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता;

प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए; तथा उन सबमें

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित कराने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए; दृढ़ संकल्प होकर अपनी संविधानसभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

34.7 संविधान की प्रमुख विशेषताएं

भारतीय संविधान की कुछ प्रमुख विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं के चलते भारतीय संविधान की अलग पहचान बनती है। यह दुनिया के विभिन्न संविधानों की विशेषताओं पर आधारित है। डाक्टर अंबेडकर के शब्दों में इसका निर्माण "दुनिया के सभी ज्ञात संविधानों को छानने के बाद" हुआ। मौलिक अधिकारों वाला अध्याय अमेरिकी संविधान पर आधारित है; संसदीय प्रणाली ब्रिटिश संविधान से ली गई है; राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत आयरलैंड के संविधान से ग्रहण किए गए हैं; आपातकालीन प्रावधान जर्मन रीख के संविधान और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट पर आधारित हैं। लेकिन जैसा पहले ही कहा गया है दूसरे संविधानों से जो भी विशेषताएं ली गई हैं उन्हें हमारे देश की जरूरतों की रोशनी में ढाला गया है। यह सबसे बड़ा लिखित संविधान है। निर्माण के समय इसमें 395 धाराएं और 8 अनुसूचियां थीं। इसमें वादयोग्य गैर-वादयोग्य अधिकारों : मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों की सुनिश्चिती है। इनमें से दो महत्वपूर्ण विशेषताओं पर हम विचार करेंगे— मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत, पृथक निर्वाचक मंडल का त्याग और सार्वभौमिक बालिग मताधिकार।

34.7.1 बुनियादी अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत

मौलिक अधिकार राज्य को व्यक्ति के अधिकारों में दखल देने से रोकते हैं और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत राज्य के लिए इस बात को बाध्यकारी बना देते हैं कि वह सामाजिक क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए कदम उठाए। संविधान के क्रमशः तीसरे और चौथे भाग में वे अंकित हैं। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों को सात भागों में बांटा गया है— समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार, संपत्ति का अधिकार, तथा संविधानिक उपचारों का अधिकार। भारत के संविधान में उन्हें शामिल करने से पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कई प्रस्तावों में मौलिक अधिकारों तथा सामाजिक रूपांतरण के लिए राजकीय उपाय उपलब्ध कराने की जरूरत पर जोर दिया गया था : कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल का एनी बेसेन्ट का मसौदा, नेहरू रिपोर्ट, कराची प्रस्ताव, 1945 की सप्रू रिपोर्ट। सप्रू रिपोर्ट का खास महत्व है क्योंकि इसमें मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अतिरिक्त अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के प्रावधान भी सुझाए गए थे। इसमें ही पहली बार मौलिक अधिकारों को वादयोग्य और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को गैर-वादयोग्य अधिकार कहकर उनमें अंतर किया गया था।

मौलिक अधिकारों वाली संविधान सभा की उप समिति में अधिकारों पर कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं था, हालांकि कुछ तकनीकी मतभेद थे। इसने सुझाव दिया कि मौलिक अधिकारों को वादयोग्य बनाना चाहिए। बहरहाल उप समिति ने सुझाव दिया कि मौलिक अधिकारों के सिलसिले में राज्य पर नकारात्मक रोक के बावजूद वह सामाजिक क्रांति के हित में दखल दे सकता है। अमृत कौर ने अय्यर के समर्थन से मौलिक अधिकारों में धर्म के स्वतंत्र "व्यवहार" की अनुमति का विरोध किया था क्योंकि इसमें देवदासी, सती और पर्दाप्रथा जैसे "समाज-विरोधी" आचरण शामिल हो सकते हैं। इस विरोध के फलस्वरूप संविधान में प्रावधान किया गया कि धर्म के स्वतंत्र आचरण के अधिकार के कारण राज्य को सामाजिक कल्याण और सुधार के कानून बनाने से रोका नहीं जा सकता। "कानून के समक्ष समानता" के बारे में उप समिति के सुझाव के सिलसिले में अय्यर का मानना था कि इससे कारखाने के मजदूर, बच्चे और औरतों जैसे समाज के हाशिए पर पड़े समुदायों के विरुद्ध भेदभाव हो सकता है। उन्होंने सुझाव दिया कि "कानून के समक्ष समानता" की जगह कहा जाए कि "कानून की समान सुरक्षा से कोई व्यक्ति वंचित नहीं होगा"। इस सुझाव को संविधान में शामिल कर लिया गया। उप समिति ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राजकीय जिम्मेदारी के बीच टकराव तथा अल्पसंख्यक अधिकारों की रक्षा जैसे मामलों पर भी विचार किया। इस बहस के फलस्वरूप जबरिया श्रम और मानव तस्करी के खात्मे, धर्म के आचरण की स्वतंत्रता संबंधी प्रावधान आए तथा लिपि और संस्कृति की रक्षा और अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षिक संस्थाओं को बनाए रखने का अधिकार संबंधी विशेष प्रावधान बने। इन सभी प्रावधानों को संविधान में जगह मिली।

34.7.2 सार्वभौमिक बालिग मताधिकार और पृथक निर्वाचक मंडल का त्याग

मौलिक अधिकारों की मसौदा सूची पर विचार करने के बाद मौलिक अधिकारों की उप समिति ने उन सबको संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकारों के बतौर शामिल करने की अनुशंसा नहीं की। उन्होंने सुझाया कि इसके बजाए इन्हें संविधान में अन्य जगहों पर समाहित कर लिया जाए। इसका एक उदाहरण सार्वभौमिक मताधिकार और समयबद्ध चुनाव है। एकमत से उप समिति सार्वभौमिक मताधिकार के पक्ष में थी लेकिन सुझाया कि इसे मौलिक अधिकारों का अंग नहीं होना चाहिए। इसी के अनुरूप इसे चुनाव संबंधी भाग पंद्रह की धारा 326 में रखा गया। बहरहाल धारा 326 में "सार्वभौमिक" शब्द गायब है। लेकिन चूंकि देश का प्रत्येक बालिग नागरिक मतदान का अधिकारी है इसलिए वस्तुतः यह सार्वभौमिक बालिग मताधिकार हो जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है भारतीयों को सार्वभौमिक बालिग मताधिकार मिलने से पहले भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेताओं ने संयुक्त निर्वाचक मंडल के पक्ष में पृथक निर्वाचक मंडल के खात्मे की कोशिश की। हम जानते हैं कि ब्रिटिश लोग 1909 के मोर्ले-मिंटो सुधारों से लेकर 1932 में संविधान में कम्प्यूनल अवार्ड तक पृथक निर्वाचक मंडल जारी रखना चाहते थे। कम्प्यूनल अवार्ड में मुस्लिम, यूरोपीय, सिख, भारतीय ईसाई और आंग्ल-भारतीयों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था थी। इसमें डिप्रेस्ड क्लासेज के लिए भी सीटें थीं जिन्हें विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से चुनकर भरा जाना था। इन निर्वाचन क्षेत्रों में केवल डिप्रेस्ड क्लासेज के लोग वोट देते। इसके अलावा डिप्रेस्ड क्लासेज के लोग सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में भी वोट देने के अधिकारी थे। गांधी डिप्रेस्ड क्लासेज के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की धारणा की संस्तुति के विरुद्ध थे। सितंबर 1932 में वे आमरण अनशन पर बैठ गए। अंबेडकर ने गांधी के अनशन का विरोध किया। बहरहाल पूना पैक्ट में गांधी और अंबेडकर दोनों समझौते पर पहुंचे। पूना पैक्ट के मुताबिक सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में डिप्रेस्ड क्लासेज के लिए सीटें आरक्षित की गईं। इससे पृथक निर्वाचक मंडल का खात्मा हुआ। पृथक निर्वाचक मंडल के खात्मे का प्रतिबिंबन संविधान में विधायी निकायों में सीटों के आरक्षण में हुआ।

34.8 सारांश

भारतीय संविधान का निर्माण आम तौर पर दो चरणों में हुआ— 1857 से 1935 तक और 1946 से 1949 तक। कंपनी से ब्रिटेन की महारानी को जब सत्तांतरण हुआ तो ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न ऐक्टों के जरिए प्रशासन के विभिन्न तत्वों को लागू किया। इसी के तहत प्रशासन की संस्थाओं में भारतीयों के प्रतिनिधित्व के तत्व भी शामिल थे। इन्हें लागू करने के पीछे अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीयों को लोकतांत्रिक अधिकार देने की जगह औपनिवेशिक हितों की सेवा करना था। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों और 1932 के कम्यूनल अवार्ड के जरिए सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रावधान किया गया जिसका विरोध भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने किया खासकर डिप्रेस्ड क्लासेज के मामले में। गांधी के अनशन के परिणामस्वरूप पूना पैक्ट हुआ जिसके कारण पृथक निर्वाचक मंडल का खात्मा हो गया लेकिन प्रांतीय विधायिका में डिप्रेस्ड क्लासेज को आरक्षण दिया गया। जब कांग्रेस ने अपने देश के निर्वाचकों द्वारा भारत का संविधान बनाने की जरूरत पर जोर दिया तो उसके बाद अंग्रेजों ने भी अनिच्छापूर्वक द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बदली हुई राजनीतिक स्थिति में और ब्रिटेन में सरकार के बदलने से महसूस किया कि भारतीयों के लिए भारत की संविधान सभा की तत्काल आवश्यकता है। संविधान सभा की स्थापना कैबिनेट मिशन की संस्तुतियों के अनुपालन में हुई और इसका चुनाव प्रांतीय विधायी सदनों द्वारा सीमित बालिग मताधिकार के जरिए हुआ। समाज के विशेषाधिकारसंपन्न तबकों द्वारा चुने होने के बावजूद संविधान सभा में विभिन्न तरह के अभिमतों और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व हुआ था। इसमें भारत के विभिन्न सामाजिक समूहों का भी प्रतिनिधित्व था। किसी भी निर्णय पर पहुंचने से पहले संविधान सभा सभी मुद्दों पर गहराई से बहस करती थी। संविधान सभा की विभिन्न उप समितियों के निर्णयों और सुझावों को अंततः भारत के संविधान में समाहित कर लिया गया। भारत का संविधान ऐसा दस्तावेज है जो सामाजिक बदलाव का खाका मुहैया कराता है। संविधान सामाजिक जनवाद के कुछ तत्वों के साथ उदार लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों का मूर्त रूप है। यह व्यक्तियों के अधिकारों— न्याय, स्वतंत्रता, बंधुत्व— की रक्षा की गारंटी देता है और सामाजिक तथा धार्मिक समुदायों के सांस्कृतिक और धार्मिक अधिकारों की भी रक्षा करता है।

34.9 अभ्यास

- 1) नेहरू रिपोर्ट के प्रावधान क्या थे? इसकी कमियां क्या थीं?
- 2) भारतीय संविधान के निर्माण में संविधान सभा की भूमिका पर विचार कीजिए।
- 3) भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण प्रावधानों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 35 राष्ट्रीय आंदोलन की विरासतें*

संरचना

- 35.1 प्रस्तावना
- 35.2 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विलक्षणता
- 35.3 विरासतें
 - 35.3.1 भारतीय राष्ट्र का निर्माण
 - 35.3.2 राजनीति में जन भागीदारी
 - 35.3.3 नागरिक अधिकारों का प्रोत्साहन
 - 35.3.4 आधुनिक विज्ञान और तकनीक पर आधारित आर्थिक विकास
 - 35.3.5 धर्म निरपेक्षता
 - 35.3.6 स्वतंत्र विदेश नीति
- 35.4 कमजोरियां और सीमाएं
- 35.5 सारांश
- 35.6 अभ्यास

35.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम की यह अंतिम इकाई है। इस इकाई का उद्देश्य समूचे पाठ्यक्रम का सिंहावलोकन है। खासकर इसमें राष्ट्रीय आंदोलन की विरासतों पर विचार किया गया है और उन धाराओं को पहचाना गया है जिनकी कुछ प्रासंगिकता स्वाधीन भारत के लिए है। एक तरह से इसमें इस सवाल का जवाब देने की कोशिश है : भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में क्या जीवंत है और क्या मृत ? या 1947 में क्या खत्म हुआ और उसके बाद क्या जारी रहा ? यह तो साफ है कि 1947 में स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आंदोलन खत्म हो गए। लेकिन इस आंदोलन के दौरान विकसित प्रवृत्तियों और आचरणों की छाया 1947 के बाद के भारतीय समाज के विकास पथ पर भी पड़ती रही। विरासतों के बारे में इस इकाई का उद्देश्य मूल तौर पर उन प्रवृत्तियों और आचरणों का जायजा लेना है।

35.2 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विलक्षणता

वैश्विक संदर्भ में देखने पर भारत के इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के स्थान की तुलना मोटे तौर पर यूरोप के इतिहास में फ्रांसिसी क्रांति के स्थान से तथा रूस के इतिहास में रूसी क्रांति के स्थान से की जा सकती है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन खासकर 1920 के बाद गांधी के नेतृत्व में आने के बाद सर्वाधिक संभव सर्वानुमति का प्रतिनिधित्व करता है। इसी सर्वानुमति के चलते आंदोलन की विरासत कायम और जीवित रही। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान पैदा हुई सर्वानुमति विरासत में नहीं मिली थी; इसका अस्तित्व आंदोलन से पहले एक पहले से मौजूद यथार्थ के रूप में नहीं था। आंदोलन द्वारा इस सर्वानुमति का सृजन उसी दौरान हुआ। इस सर्वानुमति के दो स्तम्भ थे:

*इकाई लेखक: प्रो. सलिल मिश्रा

- साम्राज्यवाद-विरोध
- राष्ट्रीय एकता की धारणा

सभी व्यक्ति और संगठन जो इन दो विचारों में विश्वास करते और उन पर अमल करते थे वे राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा सृजित इस राष्ट्रीय सर्वानुमति का अंग माने जाते थे। इस न्यूनतम मानदंड के निर्माण के चलते आंदोलन को 'छतरीनुमा सर्वानुमति' बनाने में मदद मिली। जमीनी स्तर पर इसका मतलब था लायलिस्टों (वे लोग जो अंग्रेजों के प्रति लायल या निष्ठावान बने रहे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा निर्मित समर्थन की प्रणाली के अंग थे) और संप्रदायवादियों (जो राष्ट्रीय एकता के विचार को नहीं मानते थे और इसकी जगह मानकीकृत तथा समरूपीकृत धार्मिक-राजनीतिक समुदायों के निर्माण के लिए काम करते थे) को छोड़कर सभी तरह के भारतीय इस सर्वानुमति के अंग थे। यह सर्वानुमति सचमुच रंगपटल की तरह थी जिसमें तमाम तरह की राजनीतिक प्रवृत्तियों को समाहित किया गया था। क्रांतिकारी, कम्यूनिस्ट, समाजवादी, कांग्रेस के भीतर के वामपंथी, कांग्रेस के भीतर के दक्षिणपंथी, मध्यमार्गी, संविधानवादी और लिबरल- एक दूसरे से इतना भिन्न राजनीतिक प्रवृत्तियां अपने मतभेद बनाए रखते हुए भी इस छतरीनुमा सर्वानुमति का हिस्सा बनी हुई थीं। राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने के लिए उन्हें अपनी बुनियादी राजनीतिक दिशा को छोड़ने की जरूरत नहीं थी। इस सर्वानुमति के चलते आंदोलन आंतरिक विविधता को बरकरार रखते हुए समग्र एकता कायम करने में सफल हुआ।

यह बहुलता राष्ट्रीय आंदोलन की महत्वपूर्ण विलक्षणता थी। राष्ट्रवादी संघर्ष को विविधता प्रदान करने के अलावे इसने 1947 में आंदोलन को संघर्ष से सत्ता में अबाध संक्रमण करने में सक्षम बनाया।

35.3 विरासतें

राष्ट्रीय आंदोलन ने स्वतंत्र भारत के लिए समृद्ध विरासत छोड़ी। लेकिन स्वाभाविक रूप से विरासतें अक्षय नहीं होतीं। उनमें अपने आपको स्थायी रखने की क्षमता नहीं होती। कोशिश करके उन्हें सचेत तौर पर पाला और टिकाऊ बनाया जाता है। स्वतंत्र भारत के लिए यह विरासत बहुत कुछ 'पुश्तैनी संपदा' थी; या तो इसे पाला पोसा जाता या गंवा दिया जाता।

राष्ट्रीय आंदोलन की वह विरासत है क्या जिसे पोसने और याद रखने की जरूरत है? असल में इस विरासत के छह महत्वपूर्ण घटक हैं।

35.3.1 भारतीय राष्ट्र का निर्माण

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से जिस भारतीय राष्ट्रवाद का उभार हुआ वह राष्ट्रवाद नामक वैश्विक परिघटना का एक रूप था। लेकिन इसकी कुछ अपनी विशेषताएं भी देखने में आईं। संक्षेप में कहें तो यह भूभागीय था (नृजातीय के बरक्स), नागरिक था (धार्मिक के बरक्स), बहुलतावादी था (एकल-सांस्कृतिक के बरक्स) और उल्लेखनीय तौर पर गैर-दमनकारी था। ऊपर से थोपे बिना इसने राष्ट्रीय एकता विकसित करने की कोशिश की। इसकी मुख्य प्रवृत्ति एकसमकारी थी (जैसा सभी राष्ट्रवाद अनिवार्य रूप से होते हैं) लेकिन ऐसा बिना अतिरिक्त दमनकारी हुए था। जैसा ऊपर कहा गया साम्राज्यवाद-विरोध और राष्ट्रीय एकता दो प्रमुख स्तम्भ थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की इमारत को खड़ा रखा।

यह भारतीय राष्ट्र बुनियादी रूप से राष्ट्रीय आंदोलन से बना और उसकी विरासत का साकार रूप था। यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय जनता का राष्ट्र पहले से मौजूद नहीं था; इसका निर्माण होना था। राष्ट्रीय आंदोलन का कार्यभार महज भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना नहीं बल्कि उसका सृजन करना भी था। यह महत्वपूर्ण बात है क्योंकि कुछ ब्रिटिश विद्वानों, नृजाति वैज्ञानिकों और अन्य टिप्पणीकारों ने भारत के लिए राष्ट्रवाद की संभावना को लगभग खारिज कर दिया था। वे समझते ही नहीं थे कि भारतीय लोग साझा राष्ट्रीयता को जन्म देने में सक्षम हैं। इसके बारे में उन्नीसवीं सदी के भारतीय राष्ट्रवाद का जवाब यह दावा था कि भारतीय जनगण "निर्माणाधीन" राष्ट्र हैं। यह धारणा (पहली बार नरमपंथी नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी द्वारा व्यक्त) उन्नीसवीं सदी में यह मानती है कि भारत के लोग विभिन्न इलाकों, भाषाओं, जातियों और धर्मों में बंटे होने के चलते एक राष्ट्र नहीं हैं बल्कि साझा राष्ट्रभाव प्राप्त करने की ओर अग्रसर हैं। आंतरिक रूप से वे इस राष्ट्रभाव को ग्रहण करने में अक्षम नहीं हैं और उनकी जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र आधारित विविधताएं राष्ट्रभाव की दिशा में उनकी यात्रा में कोई बड़ी बाधा नहीं हैं।

1947 में जब भारत आजाद हो गया तो भारतीय राष्ट्रवाद के दो स्तम्भों में से एक, साम्राज्यवाद-विरोध का भारतीय राष्ट्रवाद के प्रमुख संघटक तत्व के बतौर कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह गया। अब भारतीय राष्ट्रवाद का अपरिहार्य चरित्र क्या होगा? यह महत्वपूर्ण सवाल था और स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री नेहरू ने इसके बारे में काफी सोच-विचार किया। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्र को आर्थिक विकास और जनता के 'भावनात्मक एकीकरण' पर आधारित करना होगा। नेहरू समझते थे कि भारत जैसे विशाल और बहुविध देश में आधुनिक आर्थिक विकास से शुरुआती विषमता और विस्थापन होना तय है। भारतीय समाज के लिए विस्थापन के धक्के और दर्द से गुजरे बिना औद्योगिक समृद्धि में संक्रमण संभव नहीं है। ऐसी स्थिति आसानी से सामाजिक उथल पुथल को जन्म देगी और समाज के समूचे ताने बाने को तोड़कर रख देगी। उम्मीद यह थी कि भारतीय राष्ट्रवाद उद्योगीकरण की ओर संक्रमण में अंतर्निहित संभावित बुरे प्रभावों को निष्प्रभावी करने में सक्षम रहेगा। इसी बात को दूसरे तरीके से कहें तो आधुनिक औद्योगिक विकास भारतीय समाज की नाव को उछालेगा; राष्ट्रवाद इसे स्थिर रखने में मदद करेगा। अपने एक भाषण में 1957 में नेहरू ने अपने श्रोताओं को चेतावनी दी: "हम सब एक ही नाव में हैं, हमें एक साथ आगे बढ़ना होगा। अगर कुछ लोग इसमें कूदना शुरू कर देंगे तो नाव आगे तो नहीं ही जाएगी, डूब जरूर जाएगी।"

यह बताना बहुत मुश्किल है कि स्वतंत्र भारत में भारतीय राष्ट्र ने यह भूमिका कैसे निभाई। बहरहाल यह सच है कि 1950 के दशक में भारतीय समाज में आम तौर पर आर्थिक विकास के लिए पूर्वावश्यक राजनीतिक सर्वसम्मति और सामाजिक समरसता थी। लेकिन बाद के दशकों में काफी उथल पुथल नजर आई और समरसता में क्षरण आया। कुछ लोगों ने भारतीय राष्ट्र की वैधता पर भी सवाल उठाना शुरू कर दिया। 1990 दशक के बाद से भारतीय अर्थतंत्र के वैश्वीकरण और तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के चलते भारतीय राष्ट्रवाद के लिए नई चुनौतियां पैदा हुईं। समय ही बताएगा कि नई चुनौतियों से भारतीय राष्ट्र कैसे जूझेगा। फिलहाल यही याद रखना महत्वपूर्ण है कि राष्ट्र निर्माण की यह प्रक्रिया लगातार जारी प्रक्रिया है। दोनों तरह की शक्तियां— इस प्रक्रिया की समर्थक और विरोधी— समाज में मौजूद हैं। कुछ प्रवृत्तियां इस प्रक्रिया को त्वरित कर रही हैं तो कुछ अन्य प्रवृत्तियां इस प्रक्रिया को बाधित करने की कोशिश कर रही हैं। बहरहाल इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन की महत्वपूर्ण विरासतों में से एक भारतीय राष्ट्रवाद है और भारतीय समाज के भविष्य में इसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

35.3.2 राजनीति में जन भागीदारी

भारतीय राजनीति का लोकतंत्रीकरण और राजनीति में जन भागीदारी राष्ट्रीय आंदोलन के अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता थे। लोकतंत्रीकरण ने आंदोलन के दौरान संघर्षों में लोकप्रिय भागीदारी का रूप लिया। भारतीय लोकतंत्र अंग्रेजों से मिला उपहार नहीं है; यह स्वतंत्रता के लिए चले राष्ट्रवादी संघर्ष से पैदा हुआ है। राष्ट्रवादी आंदोलन के जीवन काल में उसकी गति ऊपर की ओर बढ़ते छल्ले की तरह थी। स्वदेशी आंदोलन से लेकर भारत छोड़ो तक संघर्ष के प्रत्येक चरण में अलग अलग तबके— शहरी आबादी, किसान, मजदूर, विद्यार्थी, महिलाएं, आदिवासी— राष्ट्रीय आंदोलन के घेरे के भीतर आए। जो समूह जुड़े वे अपने साथ आंदोलन में अपनी गति और ऊर्जा लेकर आए। लोकप्रिय भागीदारी के चलते संघर्ष लोकतांत्रिक और ऊर्जस्वित हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए सामान्य लोगों ने तमाम तरह के अत्यंत सृजनात्मक तरीके निकाले।

इस संघर्ष का नेतृत्वकारी संगठन कांग्रेस थी, उसने बहस मुबाहिसे के बाद लोकतांत्रिक तरीके से बड़े फैसले लेने की परंपरा शुरू की। कांग्रेस द्वारा लिए गए सभी बड़े फैसले, जैसे 1920 में असहयोग आंदोलन शुरू करना, 1937 में विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस द्वारा गद्दी संभालना, भारत छोड़ो आंदोलन शुरू करना, पर्याप्त बहस मुबाहिसे के बाद लिए गए। अक्सर कांग्रेस के भीतर मतभेद इतने गंभीर होते थे कि उनसे संगठन में फूट पड़ने का खतरा पैदा हो जाता। 1922 के बाद बदलाव के समर्थकों और विरोधियों के बीच विधायिका में प्रवेश के सवाल पर गंभीर मतभेद पैदा होने पर कांग्रेस विभाजन के काफी करीब पहुंच गई थी। 1923 में कांग्रेस के भीतर स्वराज पार्टी का गठन करके इस विभाजन को रोका गया। इसी तरह 1930 के दशक में नेहरू और सुभाष चंद्र बोस के प्रतिनिधित्व वाले कांग्रेस के वामपक्ष और पटेल, राजेंद्र प्रसाद और राजगोपालाचारी के प्रतिनिधित्व वाले दक्षिणपंथ के बीच गंभीर मतभेद पैदा हो गए। लेकिन इन मतभेदों को भी बहस मुबाहिसे और आपसी समझौतों के जरिए सुलझा लिया गया। कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन की लोकतांत्रिक कार्यपद्धति के कारण ही यह संभव हो सका।

1947 के बाद भारतीय संविधान ने सार्वभौमिक बालिग मताधिकार पर आधारित संसदीय लोकतंत्र का माडल अपनाया। सार्वभौमिक बालिग मताधिकार की स्वीकृति पर खासकर कुछ विदेशी पर्यवेक्षकों ने चिंता जताई। साफ तौर पर उन्हें महसूस हुआ कि भारत में इतनी कम साक्षरता के चलते समाज के लिए पूर्ण लोकतंत्र बहुत उचित नहीं होगा। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने दूसरे तरीके से सोचा। उनका कहना था कि अगर भारत की निरक्षर जनता राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग ले सकी तो वे इतने परिपक्व हैं कि स्वतंत्र निर्णय ले सकें और अपनी सरकार चुन सकें। जनता में नेताओं के विश्वास की जड़ें स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय आंदोलन के उनके अनुभव और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित कार्यपद्धति में थीं। सार्वभौमिक बालिग मताधिकार के परिणामस्वरूप 1952 में भारतीय समाज ने दुनिया के इतिहास का सबसे बड़ा आम चुनाव देखा। उसके बाद से ही केंद्र और राज्यों में सफल चुनाव, सरकारों का परिवर्तन और शासक पार्टियों की हार भारतीय राजनीति की बुनियादी विशेषताएं रहे हैं।

इस बात पर जोर देना होगा कि राजनीतिक संरचना का लोकतंत्रीकरण स्वाधीन भारत की सबसे बड़ी उपलब्धि है। भारतीय समाज (कम साक्षरता दर, अस्थिर आर्थिक विकास, और समाज में कई तानाशाहीमूलक परंपराओं की जकड़बंदी के बावजूद) अगर सफलतापूर्वक लोकतंत्र को अपना सका तो उसका मुख्य कारण बहुत हद तक राष्ट्रीय आंदोलन के विकासक्रम के दौरान विकसित कार्यव्यवहार है। राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान ही भारतीय

जनता ने लोकतांत्रिक मूल्यों को ग्रहण किया और अपने राजनीतिक व्यवहार में उन्हें शामिल किया। आज भारतीय लोकतंत्र फल फूल रहा है और जीवंत है हालांकि निर्दोष तो नहीं है। पिछले छह दशकों में इसमें वृद्धि हुई है और इसका आधार काफी विस्तारित हुआ है। मजेदार बात यह है कि जो रास्ता इसने पकड़ा वह बहुत कुछ वैसा ही है जैसा राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान इसने पकड़ा था। भारतीय जनता के विभिन्न समूहों ने संघर्ष में एक ही बार में शिरकत नहीं की बल्कि वे अलग अलग चरणों में इसमें शामिल हुए। बीसवीं सदी की शुरुआत में यह आंदोलन बहुत करके शहरी मध्यवर्गीय पुरुषों का प्रतिनिधित्व करता था और देश के कुछ अंचलों तक सीमित था। लेकिन जल्दी ही यह कुलीन घरे से बाहर निकल आया और अपने घरे में इसने विद्यार्थियों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, किसानों, महिलाओं, मजदूरों और आदिवासियों को खींचना शुरू कर दिया। मोटामोटी इसी तरह से स्वतंत्र भारत में भारतीय लोकतंत्र आगे बढ़ा है। विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक समूह अलग अलग चरणों में भारतीय लोकतंत्र में शामिल हुए हैं और इस तरह उन्होंने इसे समृद्ध किया है। स्वतंत्र भारत के प्रमुख राजनीतिक टकराव लोकतांत्रिक ढांचे के भीतर चलाए गए, वे इसके बारे में नहीं थे। भारतीय लोकतंत्र ने हाशिए की जनता— महिला, आदिवासी, दलित, मुसलमान— को पर्याप्त आत्मविश्वास दिया है कि वे अपने विशेष संघर्ष बिना किसी बाहरी मध्यस्थता की खोज किए लोकतांत्रिक विकल्प का उपयोग करते हुए खुद ही संचालित करें। भारतीय लोकतंत्र ने टकरावों के समाधान की दिशा में भी काम किया है और कुल मिलाकर समाज को सर्वसम्मति के कुछ क्षेत्र निर्मित करने में सक्षम बनाया है हालांकि यह काम अक्सर उसने गड़बड़, ढीले ढाले और असंगत तरीके से किया है।

35.3.3 नागरिक अधिकारों का प्रोत्साहन

राष्ट्रीय आंदोलन की एक और बड़ी विरासत नागरिक अधिकारों पर अत्यधिक ध्यान देना है। एकदम शुरू से ही राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने प्रेस, अभिव्यक्ति और संगठन की आजादी जैसे नागरिक अधिकारों को लेकर सरोकार जताया। आरम्भिक राष्ट्रवादी नेतृत्व के लिए प्रेस की आजादी का केंद्रीय महत्व था क्योंकि उनकी ज्यादातर राजनीतिक गतिविधियां प्राथमिक रूप से प्रेस के जरिए ही संचालित होती थीं। गोपाल कृष्ण गोखले शायद पहले भारतीय नेता थे जो शिक्षा को बुनियादी मानव अधिकार मानते थे। हालांकि वे हमेशा अंग्रेजों द्वारा लादे गए टैक्स के भारी बोझ का विरोध करते थे लेकिन अगर अंग्रेज अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेदारी लें तो वे मौजूदा टैक्सों का समर्थन करने को तैयार थे। अपने पत्रकारीय लेखन के जरिए अंग्रेजों की आलोचना करने के लिए जेल जाने वाले पहले राष्ट्रवादी नेता एस एन बनर्जी थे। बाद में गांधी के नेतृत्व में स्वेच्छा से जेल जाना राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख राजनीतिक गतिविधि बन गया जब हजारों लोगों ने जेल जाना चुना।

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही लोकमान्य तिलक ने बालिग मताधिकार की मांग शुरू कर दी हालांकि ब्रिटेन में भी 1928 तक यह अधिकार मिला नहीं था। मानवाधिकारों के प्रति अपनी निष्ठा के बतौर मोतीलाल नेहरू और तेज बहादुर सप्रू के नेतृत्व में भारतीय नेताओं ने 1928 में राष्ट्रीय संविधान तैयार किया। आम तौर पर इसे नेहरू रिपोर्ट कहा जाता है और इसमें मानवाधिकारों की घोषणा, संसदीय शासन प्रणाली, बालिग मताधिकार और स्वतंत्र न्यायपालिका की संस्तुति की। 1936 में जवाहरलाल नेहरू की पहल पर नागरिक अधिकारों को प्रोत्साहन देने के लिए गैर-दलीय तरीके से इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन (आई सी एल यू) की स्थापना हुई। नेहरू द्वारा तैयार इसके पहले सर्कुलर में कहा गया : "इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन की शुरुआत करने का प्रस्ताव है जिसका एकमात्र काम राष्ट्रीय गतिविधियों के सभी विभागों में नागरिक अधिकारों की रक्षा करना

होगा।..... इस यूनियन का पहला काम आंकड़ा एकत्र करना और उसका प्रचार करना है। नागरिक अधिकारों के किसी भी उल्लंघन का प्रतिरोध करने के लिए जनमत का निर्माण जैसी अन्य गतिविधियां इसके बाद ही होंगी।” स्वतंत्र भारत में विकसित होने वाले प्रमुख नागरिक अधिकार और मानवाधिकार संगठनों का पूर्ववर्ती यही संगठन था।

लेकिन सबसे आगे बढ़कर गांधी ने साफ तौर पर और स्पष्ट रूप से बताया कि नागरिक अधिकार होते क्या हैं। 1922 में अपने साप्ताहिक यंग इंडिया में उन्होंने लिखा : “सबसे पहले हमें भाषण की स्वतंत्रता और संगठन की स्वतंत्रता के अधिकार को हासिल करना होगा। इन प्रारम्भिक अधिकारों की रक्षा हमें अपना जीवन देकर भी करनी होगी।” इन अधिकारों की उनकी परिभाषा थी : “बोलने की आजादी का मतलब है कि यह तब भी अनुल्लंघनीय है जब इससे चोट लगे; प्रेस की आजादी का सम्मान सचमुच तब माना जाएगा जब तीक्ष्णतम शब्दों में टिप्पणी कर सके या मामलों को गलत तरीके से भी प्रस्तुत कर सके। इकट्ठा होने की आजादी का सच्चा सम्मान तभी होगा जब जनता की सभाओं में क्रांतिकारी प्रोजेक्टों पर भी विचार हो।”

इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने स्वतंत्र भारत में अनुपालन हेतु मानवाधिकारों का मजबूत ढांचा मुहैया कराया। बहरहाल स्वतंत्र भारत में मानवाधिकारों की हालत सर्वदा सुसंगत या समान स्तर पर नहीं रही। ऐसे मौके आए जब राज्य और उसकी संस्थाओं में सर्वसत्तावादी झुकाव के चलते या समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से के प्रति प्रदर्शित असहिष्णुता के कारण मानवाधिकारों और नागरिक अधिकारों के मामले में समूचे समाज को घाटा उठाना पड़ा। फिर भी कहना होगा कि कई अन्य समाजों की तुलना में भारत में जनता के नागरिक और मानव अधिकारों के प्रति स्वस्थ सम्मान दिखाई देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय समाज द्वारा आचरित मानवाधिकार परिप्रेक्ष्य जितना भी सीमित स्तर पर हो वह राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित प्रभावी आचरण की विरासत है।

35.3.4 आधुनिक विज्ञान और तकनीक पर आधारित आर्थिक विकास

राष्ट्रीय आंदोलन की एकदम शुरुआत से ही राष्ट्रवादी नेतृत्व ने आधुनिक औद्योगिक समाज और अर्थतंत्र के बतौर भविष्य के भारत का सपना विकसित किया। जैसा यूरोप में हुआ उसी तरह आधुनिक विज्ञान और तकनीक का पूरा इस्तेमाल करते हुए उद्योगीकरण पर अर्थतंत्र को आधारित होना था। असल में भविष्य के भारत का उनका खाका ऐसा देश था जो किसी यूरोपीय देश के समान हो। बीसवीं सदी में इस सपने का जिस तरह विकास हुआ उसमें समृद्ध औद्योगिक समाज में भारत के रूपांतरण के काम में राज्य को नेतृत्वकारी और केंद्रीय भूमिका दी गई थी। इस सपने को 1931 के कराची अधिवेशन में पारित बुनियादी अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रम संबंधी मशहूर कांग्रेस प्रस्ताव में सूत्रबद्ध किया गया। प्रस्ताव में साफ साफ कहा गया था : “राज्य के पास मुख्य उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलवे, जलमार्ग, जहाजरानी और सार्वजनिक परिवहन के अन्य साधनों का मालिकाना और नियंत्रण होगा।” कांग्रेस के भीतर बहुत हद तक सर्वसम्मति थी कि स्वतंत्र भारत आधुनिक लोकतांत्रिक औद्योगिक समाज बनने का प्रयास करेगा।

बहरहाल इस बात पर भी जोर देना जरूरी है कि भविष्य के बारे में यह प्रमुख सपना था लेकिन यही एकमात्र सपना नहीं था। भारत के आर्थिक विकास के भविष्य के बारे में अलग अलग मौकों पर कम से कम दो प्रतिद्वंद्वी परिप्रेक्ष्य थे जो मुख्यधारा की दृष्टि से होड़ कर रहे थे। पहला सपना पूंजीवादी विकास के बरक्स समाजवादी आर्थिक विकास का सपना था। इस परिप्रेक्ष्य का विकास 30 के दशक में हुआ और इसका नेतृत्व नेहरू तथा कांग्रेस

के भीतर के अन्य वामपंथी नेता कर रहे थे। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार भारत को आधुनिक औद्योगिक समाज के रूप में विकसित तो होना था लेकिन उसमें पूंजीपति वर्ग की प्रभावी भूमिका नहीं होनी थी। आर्थिक नीतियों का निर्माण किसानों और मजदूरों की विशाल बहुसंख्या के हितों को ध्यान में रखते हुए होना था तथा संपत्ति और संसाधनों का कुछ लोगों के हाथ में अति-केंद्रीकरण को हतोत्साहित किया जाना था। नेहरू ने देश के सामने पूंजीवाद और समाजवाद को दो विकल्पों की तरह प्रस्तुत किया और साफ साफ समाजवाद को तरजीह दी। 1933 में उन्होंने घोषणा की कि "पूंजीवाद का अर्थ है उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित मुनाफे के लिए विकसित उत्पादन प्रणाली।" दूसरी ओर समाजवाद का अर्थ था "अत्यंत सीमित अपवादों को छोड़कर निजी पूंजी का खात्मा और मुनाफे की वर्तमान प्रणाली की जगह सहकारी व्यवस्था के उच्चतर आदर्श की स्थापना।" सबसे आगे बढ़कर समाजवाद का मतलब था "उत्पादन और वितरण के औजारों का राष्ट्रीकरण।" बहरहाल भारत के आर्थिक विकास की इस दृष्टि को मानने वाले केवल कुछ लोग थे। नेतृत्वकारी अन्य ढेर सारे लोग आधुनिक पूंजीवादी समाज के रूप में भारत के विकास की वकालत करते थे। सर्वसम्मति जो बनी वह आधुनिक आर्थिक विकास के ठीक ठीक उन पहलुओं के ऊपर बनी जो दोनों परिप्रेक्ष्यों में साझा थे यानी विज्ञान और तकनीक पर आधारित आधुनिक औद्योगिक विकास तथा अर्थतंत्र के प्रमुख क्षेत्रों के प्रोत्साहन में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका। नेहरू की अध्यक्षता में 1938 में राष्ट्रीय योजना समिति के निर्माण में यह सर्वसम्मति पूरी तरह से प्रतिबिम्बित हुई। यह समिति 1950 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में स्थापित राष्ट्रीय योजना आयोग की पूर्ववर्ती थी।

राष्ट्रीय आंदोलन में एक और महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य था जिसके अनुयायी गांधी और उनके समर्थक थे। यह परिप्रेक्ष्य संसाधनों के विकेंद्रीकरण, आधुनिक तकनीक का न्यूनतम प्रयोग, गांवों को स्वायत्तता और ग्रामीण उद्योगों के सृजन पर आधारित था। इस दृष्टिकोण को गांधी ने अभिव्यक्ति दी जो अक्सर विज्ञान और तकनीक पर आधारित आधुनिक आर्थिक विकास से अपनी असहमति जाहिर करते थे और भविष्य की आर्थिक नीति के बारे में मुख्यधारा के कांग्रेसी नेतृत्व की सोच से असहमत थे। बहरहाल यह बात भी कहनी होगी कि किसी भी समय उन्होंने मुख्यधारा के दृष्टिकोण का विरोध नहीं किया और राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा की आर्थिक नीति में अपनी आर्थिक दृष्टि को शामिल करने पर निश्चय ही जोर नहीं दिया। यहां पर यह भी बता देना जरूरी है कि ऊपर बताए गए बुनियादी अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रम संबंधी मशहूर कराची प्रस्ताव लिखा तो जवाहरलाल नेहरू ने था, अधिवेशन के अध्यक्ष सरदार पटेल थे और उसे खुले सत्र में अन्य किसी ने नहीं बल्कि खुद गांधी ने ही पेश किया था!

आर्थिक विकास के बारे में मुख्यधारा का यह दृष्टिकोण स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विरासत साबित हुआ। पहले 1930 दशक में औद्योगिक क्रांति की आलोचना करने के बाद नेहरू ने इसके महत्व को पहचाना और 1958 में विश्वविद्यालय के छात्रों के अपने संबोधन में कहा : "असल में दुनिया की सबसे महान क्रांति फ्रांसिसी या अमेरिकी या चीनी या रूसी क्रांति नहीं थी, बल्कि औद्योगिक क्रांति थी, बिजली की क्रांति और आणविक क्रांति थी क्योंकि ये हमारे समूचे जीवन जीने के तरीके को बदले दे रहे हैं।" आगे चलकर इसी रास्ते पर भारतीय क्रांति को खड़ा किया जाना था।

35.3.5 धर्म निरपेक्षता

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन धर्म निरपेक्ष तौर तरीकों से संगठित किया गया और अंत तक धर्म निरपेक्षता से पूरी तरह प्रतिबद्ध रहा। बहरहाल धर्म निरपेक्षता से इस प्रतिबद्धता के रूप अलग अलग रहे। 1887 के इलाहाबाद अधिवेशन में कांग्रेस ने संकल्प किया कि वह धार्मिक

समुदायों से जुड़े किसी भी सवाल को नहीं उठाएगी अगर उस समुदाय के बहुसंख्यक लोग उस सवाल को उठाए जाने का विरोध करें। अपनी अभिव्यक्तियों, घोषणाओं और कार्यों के जरिए राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने राजनीति और राज्य से धर्म को अलगाने, धर्म को व्यक्ति का निजी मामला मानने, सभी धर्मों और धार्मिक समुदायों के प्रति समान बरताव करने, धर्म के आधार पर भेदभाव न करने और सांप्रदायिकता के सक्रिय विरोध के विचारों को प्रोत्साहित किया। अलग अलग मौकों पर इन सभी विचारों को अलग अलग रूपों में भिन्न भिन्न तरीकों से आगे बढ़ाया गया। उदाहरण के लिए 1931 के मशहूर कराची संकल्प में घोषित किया गया कि स्वतंत्र भारत में “प्रत्येक नागरिक अंतरूकरण की स्वतंत्रता का उपभोग करेगा और उसे स्वतंत्रतापूर्वक अपने धर्म के पालन और प्रचार का अधिकार होगा” और कि सभी नागरिक “कानून के समक्ष और सरकारी रोजगार, पद या सम्मान के मामले में जाति, मत या लिंग के आधार पर भेदभाव रहित समानता के हकदार” होंगे। कराची संकल्प तत्कालीन महत्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक सवालों के बारे में राष्ट्रीय आंदोलन की बुनियादी नियामक दिशा की आधारभूत बना रहा।

बहरहाल धर्मनिरपेक्षता के सवाल पर राष्ट्रीय आंदोलन के दो महत्वपूर्ण नेताओं, गांधी और नेहरू के दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर था। हालांकि दोनों ही इसके प्रति निष्ठावान थे लेकिन इसकी अभिव्यक्ति दोनों अलग अलग तरीके से करते थे। गांधी अक्सर अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को धार्मिक शब्दावली में परिभाषित करते थे क्योंकि वे धर्म को प्रथमतः नैतिकता का स्रोत समझते थे। वे गहरे धार्मिक व्यक्ति थे और उन्हें अपनी धार्मिक संबद्धता को सभी धर्मों तक विस्तारित करने में कोई हिचक नहीं थी क्योंकि सभी धर्मों का आधार वे नैतिकता को मानते थे। अपने लेखन में गांधी ने ‘धर्म’ और ‘पंथों’ में धारणात्मक अंतर किया है। इसके बाद उन्होंने घोषित किया : “धर्म एक है। लेकिन पंथ अनेक हैं।” धर्म का मतलब उनके तर्क ऐसी नैतिक व्यवस्था था जो सभी धर्मों में एक समान था। गांधी ने ‘एक और अनेक’ का यह अंतर दूसरे तरीके से भी उजागर किया है। उनका कहना था कि ‘धर्म’ तो वृक्ष का मूल है और ‘पंथ’ उसी वृक्ष की विभिन्न शाखाएं हैं। धर्म की ऐसी समझ के साथ गांधी ने खुलेआम कहा कि उनकी राजनीति धर्म (यानी नैतिकता) से व्युत्पन्न है। उन्हें यह खुलेआम घोषित करने में कोई हिचक नहीं हुई कि उनके लिए धर्म और राजनीति अलग नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। बहरहाल 1930 दशक में गांधी को महसूस हुआ कि धर्म और राजनीति के संश्रय ने सांप्रदायिकता को जन्म दिया है। इसके बाद 1940 दशक में उन्होंने कहना शुरू किया कि “धर्म प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है जिसकी राजनीति में कोई जगह नहीं होनी चाहिए।” 1947 में फिर उन्होंने जोर दिया : “धर्म प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है। इसका राजनीति या राष्ट्रीय मामले से घालमेल नहीं करना चाहिए।” इसलिए धर्म और धर्म निरपेक्षता के बारे में गांधी के विचारों को अंतर्विरोधी नहीं समझना चाहिए। धर्म के साथ साथ धर्म निरपेक्षता के प्रति उनकी संपूर्ण निष्ठा में गहरी एकता और संगति है।

इस सवाल को जवाहरलाल नेहरू ने दूसरे तरीके से देखा। 1920 दशक में सांप्रदायिक राजनीति के उभार से बेहद व्यथित नेहरू धर्म को समस्या के बतौर और सांप्रदायिकता की राजनीति के साथ लिप्त समझते थे। वे धर्म को अंधविश्वास, अतार्किकता और असहिष्णुता के बराबर मानते थे। इसलिए उन्हें लगता था कि सच्ची धर्म निरपेक्ष राजनीति तभी स्थापित हो सकती है जब समाज में धर्म के प्रभाव को न्यूनतम स्तर तक रखना होगा। 1926 में लिखे एक पत्र में नेहरू ने कहा कि हिंदू-मुस्लिम समस्या का एकमात्र समाधान “अपने इस तथाकथित धर्म को रोकना है।..... इसमें कितना समय लगेगा कहना मुश्किल है लेकिन अगर इसे काबू नहीं किया गया तो भारत में धर्म इस देश और इसकी जनता की हत्या कर

देगा।" इस समय धर्म निरपेक्षता की नेहरू की समझ धर्म और राजनीति के अलगाव पर आधारित थी तथा सामाजिक और राजनीतिक जीवन में धर्म को कोई भूमिका देने को राजी नहीं थी।

बहरहाल मजेदार बात यह है कि 1940 दशक में जिस तरह गांधी इस सवाल पर नेहरू के विचारों के करीब आए उसी तरह नेहरू भी इस सवाल पर गांधी की बुनियादी स्थिति के काफी करीब पहुंचे। 1920 दशक में धर्म के पूर्ण विरोध से आगे बढ़कर खासकर 1947 के बाद धर्म और सामाजिक जीवन में इसकी भूमिका को लेकर अधिक जटिल और सूक्ष्म नजरिया विकसित किया। नेहरू एक ओर तो धर्म को "अज्ञान और प्रतिक्रिया, जड़सूत्र और कट्टरता, अंधविश्वास और शोषण तथा निहित स्वार्थों की संरक्षा" के रूप में देखते थे। लेकिन दूसरी ओर यह ऐसी नैतिक शक्ति भी थी "जो मनुष्यों की गहन आंतरिक लालसा को तुष्ट करती थी..... (और) जिसके चलते असंख्य बेचैन आत्माओं को शांति और आराम मिला।" नेहरू इस बात को लेकर काफी सचेत थे कि धर्म को सामाजिक जीवन से हटाने की किसी भी कोशिश से जनता के जीवन में एक नैतिक शून्य पैदा हो जाएगा।

गांधी और नेहरू के विचारों में इस सहक्रिया और समाभिरूपता के साथ स्वतंत्र भारत में धर्म निरपेक्षता की जो प्रभावी धारणा विकसित हुई वह न तो धर्म-विरोधी थी न ही सामाजिक जीवन में धर्म के नकार पर आधारित थी। इसकी जगह यह सांप्रदायिकता और धर्म के आधार पर किसी भी भेदभाव के विरोध पर आधारित थी। इसके कोई शक नहीं है कि भारतीय धर्म निरपेक्षता का यह प्रभावी माडल पूरी तरह से राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित आचार-विचार से निष्पन्न है और उसकी महत्वपूर्ण विरासत का अंग है।

35.3.6 स्वतंत्र विदेश नीति

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों के लिए अपनी विदेश नीति तैयार करना बहुत आम बात नहीं है। आम तौर पर विदेश नीति संप्रभु राज्य प्रणालियां तैयार करती हैं, न कि संप्रभुता के लिए संघर्षरत आंदोलन। बहरहाल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन इस मामले में काफी अलग था कि इसने विदेश नीति के सवाल पर अश्चर्यजनक लगाव प्रदर्शित किया। आंदोलन के दौरान ही इसने विदेश नीति का अंतर्राष्ट्रीयतावादी ढांचा विकसित कर लिया था जिसके आधार पर स्वतंत्र भारत में राज्य द्वारा आचरित विदेश नीति का खाका बनाने में मदद मिली।

लगभग एकदम शुरू से कांग्रेसी नेताओं ने प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अंग्रेजों की स्थिति को मानने से इनकार किया और अपना स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य विकसित किया। कांग्रेस के मंच से उन्होंने विदेशी विजय और अधिग्रहण की ब्रिटिश नीति की आलोचना की। जब ब्रिटिश लोगों ने ऊपरी बर्मा (वर्तमान म्यांमार) का अधिग्रहण करके उसे ब्रिटिश भारत में शामिल कर लिया तो कांग्रेसी नेताओं ने इसका विरोध किया। उनके विरोध के पीछे ऐसी विजयों की भारी लागत, जिसे भारतीय संसाधनों से पूरा किया जाता था, केवल आंशिक कारण था। इसका एक बड़ा स्रोत दूसरे देश की भूभागीय अखंडता का सम्मान था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में इन आलोचनाओं का परिणाम ऐसी ठोस नीति के पालन में निकला जिसमें किसी भी देश में दूसरे देश के दखल का विरोध होता था। जब अंग्रेजों ने फारस और तुर्की के मामलों में दखल देने की कोशिश की तो कांग्रेसी नेताओं ने इसके विरोध में आवाज उठाई। खासकर तुर्की के भाग्य को लेकर उत्तेजित थे क्योंकि तुर्की का सुल्तान यानी खलीफा दुनिया भर के मुस्लिमों का आध्यात्मिक नेता माना जाता था। 1912 के कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष ने खिलाफत के दुर्भाग्य पर दुखी मुस्लिम भाइयों के प्रति तमाम गैर-मुस्लिम भारतीयों द्वारा महसूस किए जा रहे "गहन दुःख और सहानुभूति" को

अभिव्यक्त किया। बाद में प्रथम विश्व युद्ध के अंत में गांधी ने खलीफा के समर्थन में वस्तुतः खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व किया। तुर्की के खलीफा की सत्ता और प्रतिष्ठा की वापसी के लिए यह आंदोलन लड़ा जिसका वादा अंग्रेजों ने युद्ध के दौरान किया था और बाद में मुकर गए।

राष्ट्रीय आंदोलन के गांधी के सक्रिय नेतृत्व में आने के बाद जवाहरलाल नेहरू उनके सहायक के बतौर हो गए और उनके साथ मिलकर आंदोलन ने सचमुच वैश्विक आयाम ग्रहण कर लिया। नया परिप्रेक्ष्य सर्वत्र और सभी देशों के लिए आजादी और शांति के जुड़वां मूल्यों की हिमायत पर आधारित था। भारत की आजादी को विश्व शांति के इस प्रकल्प के महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखा गया। असल में 1921 में कांग्रेस ने अपनी स्वतंत्र विदेश नीति की घोषणा की। अंग्रेजों की विदेश नीति से अपने को अलग करके कांग्रेस ने शांति, स्वतंत्रता और वैश्विक सहयोग को अपनी विदेश नीति का अनिवार्य संघटक अंग बताया। शायद यह साम्राज्यवादी शासन में रहते हुए किसी उपनिवेशित द्वारा अपनी स्वतंत्र विदेश नीति की घोषणा का पहला ही उदाहरण था। गांधी ने घोषित किया : "जब हम स्वराज की अपनी योजना बना रहे हैं तो अपनी विदेश नीति पर विचार करने और उसे परिभाषित करने के लिए हम बाध्य हैं। निश्चय ही आधिकारिक तौर पर हम संसार को यह बताने के लिए बाध्य हैं कि हम उसके साथ कैसे रिश्ते बनाना चाहते हैं।"

एक बार जब कांग्रेस ने अपने आपको ब्रिटिश विदेश नीति से अलग कर लिया तो इसने यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्षरत अन्य एशियाई देशों के स्वाधीनता आंदोलनों का समर्थन करना शुरू किया। इसने अरब, मिस्र, बर्मा, श्रीलंका और चीन के संघर्षों के साथ एकजुटता प्रकट की। गांधी ने एक एशियाई संघ की बात करना शुरू किया जो आजादी और शांति के लिए प्रतिबद्ध होगा। 1927 में ब्रसेल्स में आयोजित इंटरनेशनल कांग्रेस आफ आप्रेस्ड नेशनालिटीज में नेहरू ने भाग लिया। इससे सचमुच भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का अंतर्राष्ट्रीकरण हुआ। पहली बार भारत और चीन करीब आए। अब राष्ट्रीय आंदोलन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सभी संघर्षों के साथ खुलेआम सहानुभूति जाहिर करना शुरू किया। नेहरू की पहल पर कांग्रेस ने अपने आपको ब्रसेल्स में स्थापित लीग अगेंस्ट इंपीरियलिज्म के साथ संबद्ध किया। अब कांग्रेस ने अपने मंच से घोषित किया कि भारतीय संघर्ष साम्राज्यवाद की व्यवस्था के ही विरुद्ध चलने वाले विराट विश्व संग्राम का अंग है। इसी साल यानी 1927 में ही नेहरू रूसी क्रांति की दसवीं सालगिरह के मौके पर सोवियत संघ गए और बहुत छोटे समय में ही सामाजिक स्थितियों में होने वाले रूपांतरण से बहुत प्रभावित हुए। भारत में ब्रिटिश विदेश नीति एक तरह से रूस के भय पर बनी थी। नेहरू ने इस झूठ को मटियामेट कर दिया और एक नया संदर्भ विंदु मुहैया कराया जहां से सोवियत रूस आक्रामक की बजाए सहयोगी की तरह अधिक नजर आता था। ब्रसेल्स में ही नेहरू लैटिन अमेरिकी प्रतिनिधियों के साथ संपर्क के जरिए अमेरिकी साम्राज्यवाद के बोझ के नीचे कराहते लैटिन अमेरिकी लोगों की समस्याओं के प्रति सचेत हुए। बाद में 1930 और 40 के दशक में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने स्पेनी गृहयुद्ध पर एक राय बनाई, जापानी आक्रमण के विरुद्ध संघर्षरत चीनी जनता से एकजुटता जाहिर की और फासीवाद के विरुद्ध अपना दृढ़, समझौताविहीन अभिमत प्रकट किया।

राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा आचरित विदेश नीति का कुल जमाजोड़ भारतीय राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति संयुक्त निष्ठा था। इस मामले में नेहरू ने नेतृत्व किया लेकिन उन्हें गांधी और आंदोलन के अन्य नेताओं का समर्थन हासिल था। नेहरू को महसूस हुआ कि जब तक समग्र साम्राज्यवाद को पराजित नहीं किया जाता तब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भी हराना मुश्किल होगा। इसी अर्थ में एशिया और अफ्रीका के प्रत्येक उपनिवेश को

अपनी साम्राज्यवादी ताकत से लड़ने की जरूरत थी लेकिन इसके साथ ही समग्र साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध मिलकर भी उन्हें लड़ना था। इन दोनों संघर्षों यानी राष्ट्रीय और वैश्विक संघर्ष को सफल होने के लिए एक दूसरे का पूरक होने की जरूरत थी।

इसी दौरान गांधी ने अन्य देशों के लोगों से अपील करना का काम शुरू किया। उन्होंने 'प्रत्येक ब्रिटन', 'प्रत्येक जापानी' और 'अमेरिकी दोस्तों' को भी पत्र लिखे। उन्होंने चीन पर आक्रमण के लिए जापान के लोगों को झिड़का। चरम हताशा में गांधी ने हिटलर को भी एक पत्र लिखा और उससे युद्ध रोकने की प्रार्थना की "जो मानवता को बर्बर स्थिति में ले जा सकता है।"

स्वतंत्र भारत के नेताओं के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की यह बहुत बड़ी विरासत थी। इसमें कोई दो राय नहीं कि स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की भित्ति राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान रखी गई बुनियाद पर आधारित थी। 1947 में जब भारत आजाद हुआ तो उसकी विदेश नीति की कुछ तात्कालिक और दूरगामी दोनों ही प्राथमिकताएं थीं : क) उपनिवेशवाद का खात्मा और किसी भी अन्य रूप में उसके पुनर्जीवन की रोकथाम; ख) अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ के नेतृत्व में समाजवादी समूह के बीच नए टकराव में अपनी राजनीतिक और रणनीतिक विश्व दृष्टि को परिभाषित करना; और ग) पड़ोसी देशों खासकर चीन और पाकिस्तान के प्रति कैसे संबंध निर्मित किया जाए। इन सवालों के उत्तर के बतौर स्वतंत्र भारत का नजरिया तय करने में भारत सरकार उन्हीं नीति संबंधी मानकों की ओर झुकी जो राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान निश्चित हुए थे। यह कहना होगा कि धक्कों (उदाहरण के लिए 1962 का चीन युद्ध) के बावजूद स्वतंत्र भारत में विकसित विदेश नीति का ढांचा समय की कसौटी पर खरा उतरा है और इसका श्रेय बहुत हद तक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा अपनाए गए आचरण और परिप्रेक्ष्य को दिया जाना चाहिए।

35.4 कमजोरियां और सीमाएं

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्र भारत के लिए उसकी प्रासंगिकता के सकारात्मक मूल्यांकन के बाद शायद यह जरूरी है कि आंदोलन के कमजोरी के कुछ क्षेत्रों और उसकी कमियों का जिक्र किया जाए। आम तौर कहा जाता है कि लोगों को वैसा ही राष्ट्र मिलता है जिसके वे योग्य होते हैं और इसके उलट भी होता है यानी राष्ट्र को वैसी जनता मिलती है जिसके लायक वह होता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से अधिक यह बात अन्य कहीं के लिए सही नहीं होगी। चूंकि आंदोलन भारतीय समाज और जनता का सच्चा प्रतिनिधि था इसलिए इसके दायरे में उनकी शक्ति और सीमा भी चली आई। इसलिए हालांकि आंदोलन ने आधुनिक दिशा में भारतीय समाज के रूपांतरण की शुरुआत की लेकिन समाज ने उसका भी रूपांतरण किया। आंदोलन और समाज के बीच के इस संवादात्मक संबंध का एक बड़ा लाभ यह था कि आंदोलन भारतीय जमीन में मजबूती से जड़ें जमाए रहा। लेकिन इससे एक नुकसान भी हुआ। आधुनिक दिशा में भारतीय सामाजिक संरचना के त्वरित और मूलगामी रूपांतरण लाने की आंदोलन की क्षमता में कमी आ गई। इसके फलस्वरूप 1947 के बाद जो समाज पैदा हुआ उसमें न केवल भारतीय परंपरा के सकारात्मक लक्षण मौजूद थे, बल्कि इसके कुछ नकारात्मक लक्षण (उदाहरण के लिए अन्य चीजों के साथ ऊंच-नीच, पितृसत्ता, जातिगत पूर्वाग्रह) भी बने रहे। सचमुच आश्चर्य की बात है कि आंदोलन के सच्चे प्रतिनिधिपरक चरित्र ने इसे मजबूत बनाया तो इसकी रूपांतरकारी क्षमता को कुंठित भी किया।

स्थानीय स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन सैद्धांतिक रूप से प्रशिक्षित राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं, बल्कि आम स्त्री-पुरुष कर रहे थे। ऊपर के नियंत्रण के ढांचे भी ढीले ढाले ही थे। आंदोलन के भागीदार विभिन्न स्तरों पर पर्याप्त स्वायत्तता का उपभोग करते थे। ऊपर से कठोर नियंत्रण के इस अभाव और आंदोलन तथा समाज में मौजूद तमाम विविधता के मिल जाने का अर्थ यह था कि कुल मिलाकर आंदोलन केंद्रापसारी दबावों और विखंडनशील प्रवृत्तियों से कभी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सका। यह भी स्पष्ट था कि अगर ये प्रवृत्तियां विकसित और मजबूत हुईं तो आंदोलन के नेतृत्व के लिए इन दबावों का सफलतापूर्वक मुकाबला करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। ऐसी राजनीतिक प्रवृत्तियों के विकास और कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा उनका सफलतापूर्वक मुकाबला न कर पाने से असल में देश का विभाजन हुआ और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुंची। बहरहाल यह जोड़ना होगा कि इन दोनों संभव कमियों (क्रांतिकारी बदलाव में अक्षमता और राष्ट्रीय एकता लागू करने में असफलता) से मुक्त होने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन को एकदम अलग तरीके से संगठित किया जाना चाहिए था। लेकिन जैसा हुआ राष्ट्रीय आंदोलन की दोनों कमजोरियां स्वतंत्र भारत के सामाजिक ताने बाने में भी घुस गईं।

35.5 सारांश

पाठ्यक्रम की इस अंतिम इकाई में निम्नांकित बातों पर जोर दिया गया है:

- भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता अत्यंत विस्तृत सहमति का प्रतिनिधित्व करता था। हालांकि इस आंदोलन से पहले भी आबादी के विभिन्न तबकों में साम्राज्यवाद विरोध के तत्व मौजूद थे लेकिन इस आंदोलन के दौरान ही उन्हें वास्तविक राष्ट्रीय और राष्ट्रवादी ताकत में बदला जा सका। यह आंदोलन साम्राज्यवाद-विरोध और राष्ट्रीय एकता के जुड़वां विचारों पर आधारित था। एक मंच की तरह इसे संगठित किया गया था और जिसका भी विश्वास इन विचारों में था वह इस सहमति का अंग हो सकता था।
- आंदोलन ने भारतीय राष्ट्र के ऐसे संस्करण का निर्माण किया जो भूभागीय, सभ्य और अनुत्पीड़क था। इन विशेषताओं ने उस दिशा को तय कर दिया जिस ओर 1947 के बाद देश को आगे जाना था।
- राजनीति में जन भागीदारी और धर्मनिरपेक्षता के प्रति कार्यक्रमजनित निष्ठा ने तय कर दिया कि स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता प्रमुख विचार और आदर्श के बतौर विकसित होंगे।
- राष्ट्रीय आंदोलन ने नागरिक अधिकारों के सवाल पर विशेष ध्यान दिया और एक स्वतंत्र विदेश नीति का ढांचा भी तैयार किया।
- बहरहाल, क्रांतिकारी सामाजिक रूपांतरण की अक्षमता और केंद्रापसारी तथा विखंडनकारी ताकतों से प्रभावी रूप से निपटने की असफलता— राष्ट्रीय आंदोलन की दो उल्लेखनीय कमजोरियां थीं। ये कमजोरियां भी स्वाधीन भारत की राजनीति में बनी हुई हैं। इसलिए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि स्वतंत्र भारत में समाज और राजनीति राष्ट्रीय आंदोलन की छाया में ही चलती हुई मानी जा सकती है।

35.6 अभ्यास

- 1) स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों पर जोर के पीछे भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा निभाई गई भूमिका पर विचार कीजिए।
- 2) आपको लगता है कि स्वतंत्र भारत में आर्थिक विकास के लिए विकसित नीतिगत ढांचे के पीछे राष्ट्रवादी आंदोलन जिम्मेदार है?
- 3) भारत में राष्ट्रीय आंदोलन की विरासतों की कमजोरियों और सीमाओं का विश्लेषण कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

बी आर नंदा, *गांधी ऐंड हिज क्रिटिक्स*, नई दिल्ली, 1985.

भगवान जोश, *स्ट्रगल फार हेजेमनी इन इंडिया*, वाल्यूम 2, *द कोलोनियल स्टेट, द लेफ्ट ऐंड द नेशनल मूवमेंट, 1934-41*, नई दिल्ली, 1992.

बिपन चंद्र, *आइडियोलोजी ऐंड पोलिटिक्स इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1994.

बिपन चंद्र, *इंडियन नेशनल मूवमेंट : द लांग टर्म डायनामिक्स*, नई दिल्ली, 2008.

बिपन चंद्र, *नेशनलिज्म ऐंड कोलोनियलिज्म इन माडर्न इंडिया*, हैदराबाद, 1979.

बिपन चंद्र, तथा अन्य, *इंडिया'ज स्ट्रगल फार इंडिपेन्डेन्स, 1857-1947*, नई दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, 1988.

सी एच फिलिप्स और एम डी वेनराइट (संपादक), *द पार्टीशन आफ इंडिया: पालिसीज ऐंड पर्सपेक्टिव्स, 1935-47*, लंदन, 1970.

डी ए लो, *ब्रिटेन ऐंड इंडियन नेशनलिज्म : द इम्प्रिन्ट आफ एम्बिगुइटी, 1929-42*, कैम्ब्रिज, 1997.

डी डी बसु, *इंट्रोडक्शन टु द कंस्टीच्यूशन आफ इंडिया, 1960*, (2011 बीसवां पुनर्मुद्रित संस्करण).

डा बाबासाहब आंबेडकर, *राइटिंग्स ऐंड स्पीचेज*, वाल्यूम 13, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1994.

फ्रांसिस रोबिन्सन, *इस्लाम ऐंड मुस्लिम हिस्ट्री इन साउथ एशिया*, नई दिल्ली, 2000.

ग्रेनविले आस्टिन, *द इंडियन कंस्टीच्यूशन : कार्नरस्टोन आफ ए नेशन*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1996 (2012 सत्रहवां भारतीय संस्करण).

मुशीरुल हसन (संपादक), *इंडिया'ज पार्टीशन : प्रासेस, स्ट्रेटेजी ऐंड मोबिलाइजेशन*, नई दिल्ली, 1993.

राजमोहन गांधी, *द गुड बोटमैन : ए पोर्ट्रेट आफ गांधी*, नई दिल्ली, 1995.

एस गोपाल (संपादक), *सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू*, वाल्यूम 6, नई दिल्ली, 1974.

राष्ट्रीय आंदोलन : विरासत

एस गोपाल, जवाहरलाल नेहरू: ए बायोग्राफी, वाल्यूम 1, 1889–1947, दिल्ली, 1976.

एस के चौबे, द मेकिंग ऐंड वर्किंग आफ द इंडियन कंस्टीच्यूशन, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2009.

सलिल मिश्र, ए नैरेटिव आफ कम्प्यूनल पालिटिक्स, उत्तर प्रदेश, 1937–39, नई दिल्ली, 2001.

सुमित सरकार, ए क्रिटिक आफ कोलोनियल इंडिया, नई दिल्ली.

सुमित सरकार, माडर्न इंडिया 1885–1947, मैकमिलन नई दिल्ली, 1983।

